इतिहास दिवाकर

त्रैमासिक अनुसंधान पत्रिका

वर्ष ६ अंक ४ पौष मास कलियुगाब्द ५११५ जनवरी २०१४

मार्गदर्शक :
डॉ० शिवाजी सिंह
चेतराम
इरविन खन्ना

सम्पादक :
डॉ० विद्या चन्द ठाकुर

सह सम्पादक
चेतराम गर्ग

सम्पादक मण्डल :
डॉ० रमेश शर्मा
डॉ० ओम प्रकाश शर्मा

टंकण एवं सज्जा :
अश्वनी कालिया

सम्पादकीय कार्यालय :
ठाकुर जगदेव चन्द स्मृति शोध संस्थान,
नेरी, गांव—नेरी, डाकघर—खगल
जिला—हमीरपुर—१७७००१ (हि०प्र०)
दूरभाष : ०१९७२—२०३०४४

मूल्यः
प्रति अंक —१५.०० रुपये
वार्षिक — ६०.०० रुपय
itihasdivakar@yahoo.com
chetramneri@gmail.com

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय

विवेकानन्दामृतम्
प्रणव ही ईश्वर का प्रकाशक है — स्वामी विवेकानन्द — ३

संवीक्षण
कालजयी समृद्धशाली भारतीय इतिहास — ८
वेद और वेदान्त — डॉ. हरिशचन्द्र वर्मा — १२

पुरा-वृत्त
जालन्धर दैत्य की तपःस्थली - जालन्धर पीठ — डॉ. वेद प्रकाश अग्नि — २५

क्रान्तिवीर
मां भारती के वीर सपूत नाना साहब पेशवा — विनोद कुमार लखनपाल — ३३

सृष्टि आख्यान
गुरु ग्रन्थ साहिब में वर्णित सृष्टि रचना — प्रो. गणेशदत्त भारद्वाज — ३८
सृष्टि रचना - वैदिक एवं लौकिक संदर्भ — डॉ. ओम दत्त सरोच — ४४

सम्पादकीय

ॐ की महिमा

ॐ की महिमा अपरम्पार है। ॐ शब्द परब्रह्म एवं नाद ब्रह्म है। यह सदा-सर्वदा, सर्वव्यापी अविनाशी तत्त्व है। इन्हीं की कामना एवं विधान के अन्तर्गत सृष्टि का लय और सृजन का व्यवस्थाक्रम सुनिश्चित रूप में क्रियामाण रहता है। शास्त्रों में इस शब्द ब्रह्म की व्याख्या अनेक रूपों में की गई है जिससे इसकी असीम शब्दातीत महिमा का बोध होता है।

ॐ (ओम्) तीन ध्वनियों अ, उ, म् के मेल से बना है। ॐ का उच्चारण करते ही प्राण तत्त्व तत्काल सहजतापूर्वक गतिशील होता है। इसीलिए यह शब्द ब्रह्म 'प्रणव' कहलाता है। प्रणव ईश्वर का वाचक है – **तस्य वाचकः प्रणवः।** *महर्षि पतञ्जलि के इस योगसूत्र का विवेचन करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने ॐ को स्वाभाविक वाचक ध्वनि कहा है। स्वामी जी कहते हैं – ॐ (अ उ म्) वह ध्वनि है जो सारी ध्वनियों का भीत्तिस्वरूप है। इसका प्रथम अक्षर 'अ' सभी ध्वनियों का मूल है – यह सारी ध्वनियों की कुञ्जी के समान है। वह जिह्वा या तालु के किसी अंश को स्पर्श किए बिना ही उच्चारित होता है। 'म्' ध्वनि शृंखला की अन्तिम ध्वनि है, उसका उच्चारण करने में दोनों ओठों को बन्द करना पड़ता है और 'उ' जिह्वा के मूल से लेकर मुख के मध्यवर्ती ध्वनि के आधार की अन्तिम सीमा तक मानो ढुलकता आता है। इस प्रकार ॐ शब्द के द्वारा ध्वनि-उत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया प्रकट हो जाती है। अतएव यह स्वाभाविक वाचक ध्वनि है, यही विभिन्न ध्वनियों की जननीस्वरूप है। जितने प्रकार के शब्द उच्चारित हो सकते हैं – हमारी ताकत में जितने प्रकार के शब्द के उच्चारण की सम्भावना है, ॐ उन सभी का सूचक है। भारतवर्ष में जितने सारे विभिन्न धर्मभाव है, यह ॐकार उन सबका केन्द्रस्वरूप है। वेद के सब विभिन्न धर्मभाव इस ॐकार का ही अवलम्बन किए हुए हैं।*

विनीत,

डॉ. विद्या चन्द ठाकुर

विवेकानन्दामृतम्

प्रणव ही ईश्वर का प्रकाशक है

स्वामी विवेकानन्द

यह सत्य है कि समस्त ज्ञान हमारे भीतर ही निहित है, पर उसे एक दूसरे ज्ञान के द्वारा जाग्रत करना पड़ता है। यद्यपि जानने की शक्ति हमारे अन्दर ही विद्यमान है, फिर भी हमें उसे जगाना पड़ता है और योगियों के मतानुसार, ज्ञान को इस प्रकार जगाना अर्थात् ज्ञान का उन्मेष एक दूसरे ज्ञान के सहारे ही हो सकता है। अचेतन जड़ पदार्थ ज्ञान का विकास कभी नहीं करा सकता——केवल ज्ञान की शक्ति से ही ज्ञान का विकास होता है। हमारे अन्दर जो ज्ञान है, उसको जगाने के लिए ज्ञानी पुरुषों का हमारे पास रहना सदैव आवश्यक है। यही कारण है कि इन गुरुओं की आवश्यकता सदा ही बनी रही है। जगत् कभी भी इन आचार्यों से रहित नहीं हुआ। उनकी सहायता बिना कोई भी ज्ञान नहीं आ सकता। ईश्वर सारे गुरुओं का भी गुरु है, क्योंकि ये सब गुरु कितने ही उन्नत क्यों न रहे हों, वे देवता या स्वर्गदूत ही क्यों न रहे हों, पर वे सबके सब बद्ध थे और काल से सीमित थे; किन्तु ईश्वर काल से आबद्ध नहीं है। योगियों के दो विशेष सिद्धान्त हैं। एक तो यह कि सान्त वस्तु की भावना करते ही मन बाध्य होकर अनन्त की भी बात सोचेगा, और यदि उस मानसिक अनुभूति का एक भाग सत्य हो, तो उसका दूसरा भाग भी अवश्यमेव सत्य होगा। क्यों? इसलिए कि जब दोनों उस एक ही मन की अनुभूतियाँ हैं, तो दोनों अनुभूतियों का मूल्य समान ही होगा। मनुष्य का ज्ञान अल्प है अर्थात् मनुष्य अल्पज्ञ है——इसी से जाना जाता है कि ईश्वर का ज्ञान अनन्त है, ईश्वर अनन्त ज्ञानसम्पन्न है। यदि हम इन दोनों अनुभूतियों में से एक को ग्रहण करें, तो दूसरे को भी क्यों न ग्रहण करेंगे? युक्ति तो कहती है——या तो दोनों को मान लो, या फिर दोनों को ही छोड़ दो। यदि मैं विश्वास करूँ कि मनुष्य अल्पज्ञानसम्पन्न है, तो मुझे यह भी अवश्य मानना पड़ेगा कि उसके पीछे कोई असीम ज्ञानसम्पन्न पुरुष है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि गुरु बिना कोई भी ज्ञान नहीं हो सकता। आजकल के दार्शनिकों का जो कथन है कि मनुष्य का ज्ञान उसके स्वयं के भीतर से उत्पन्न होता है, यह सच है; सारा ज्ञान मनुष्य के भीतर ही विद्यमान है, पर उस ज्ञान के विकास के लिए कुछ अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। हम गुरु बिना कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। अब बात यह है कि यदि मनुष्य, देवता अथवा कोई स्वर्गदूत हमारे गुरु हों, तो वे भी तो ससीम है; फिर उनसे पहले उनके गुरु कौन थे? हमें मजबूर होकर यह चरम सिद्धान्त स्थिर करना ही होगा कि एक ऐसे

गुरु हैं, जो काल के द्वारा सीमाबद्ध या अवच्छिन्न नहीं हैं। उन्हीं अनन्त ज्ञान सम्पन्न गुरु को, जिनका आदि भी नहीं और अन्त भी नहीं, ईश्वर कहते हैं।

तस्य वाचकः प्रणवः ।।

(पातंजल योग सूत्र, समाधिपाद, सूत्र–२७)

प्रणव अर्थात् ओंकार उन ईश्वर का वाचक (प्रकाशक) है।

तुम्हारे मन में जो भी भाव उठता है, उसका एक प्रतिरूप शब्द भी रहता है; इस शब्द और भाव को अलग नहीं किया जा सकता। एक ही वस्तु के बाहरी भाग को शब्द और अन्तर्भाग को विचार या भाव कहते हैं। कोई भी व्यक्ति विश्लेषण के बल से विचार को शब्द से अलग नहीं कर सकता। बहुतों का मत है कि कुछ लोग एक साथ बैठकर यह स्थिर करने लगे कि किस भाव के लिए कौन से शब्द का प्रयोग किया जाये, और इस प्रकार भाषा की उत्पत्ति हो गयी। किन्तु यह प्रमाणित हो चुका है कि यह मत भ्रमात्मक है। जब से मनुष्य विद्यमान है, तब से शब्द और भाषाएँ रही हैं। अब प्रश्न यह है कि एक भाव और एक शब्द में परस्पर क्या सम्बन्ध है। यद्यपि हम देखते हैं कि एक भाव के साथ एक शब्द का रहना अनिवार्य है, तथापि ऐसा नहीं कि एक भाव एक ही शब्द द्वारा प्रकाशित हो। बीस विभिन्न देशों में भाव एक ही होने पर भी भाषाएँ बिल्कुल भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। प्रत्येक भाव को प्रकट करने के लिए एक न एक शब्द की आवश्यकता अवश्य होगी, किन्तु इन शब्दों का एक ही ध्वनिविशिष्ट होना कोई आवश्यक नहीं। विभिन्न देशों में भिन्न भिन्न ध्वनिविशिष्ट शब्दों का व्यवहार होगा। इसीलिए टीकाकार ने कहा है,"यद्यपि भाव और शब्द का परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है, तथापि एक ध्वनि और एक भाव के बीच एक नितान्त अलंघनीय सम्बन्ध ही रहे, ऐसी कोई बात नहीं।"[१] यद्यपि ये सब ध्वनियाँ भिन्न भिन्न होती है, तो भी ध्वनि और भाव का परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है। यदि वाच्य और वाचक के बीच प्रकृत सम्बन्ध रहे, तभी यह कहा जा सकता है कि भाव और ध्वनि के बीच परस्पर सम्बन्ध है। यदि ऐसा न हो, तो वह वाचक शब्द कभी सर्व-साधारण के उपयोग में नहीं आ सकता। वाचक वाच्य पदार्थ का प्रकाशक होता है। यदि वह वाच्य वस्तु पहले से अस्तित्व में रहे, और हम यदि पुनः पुनः परीक्षा द्वारा यह देखें कि उस वाचक शब्द ने उस वस्तु को अनेक बार सूचित किया है, तो हम निश्चित रूप से यह मान सकते हैं कि उस वाच्य और वाचक के बीच एक यथार्थ सम्बन्ध है। यदि ये वाच्य पदार्थ न भी रहें, तो भी हजारों मनुष्य उनके वाचकों के द्वारा ही उनका ज्ञान प्राप्त करेंगे। पर हाँ, वाच्य और वाचक के बीच एक स्वाभाविक सम्बन्ध रहना अनिवार्य है। ऐसा होने पर ज्यों ही उस वाचक-शब्द का उच्चारण किया जायेगा, त्यों ही वह उस वाच्य पदार्थ की बात मन में ला देगा। सूत्रकार कहते हैं, ओंकार ईश्वर का वाचक है। सूत्रकार ने विशेष रूप से 'ॐ' शब्द का ही उल्लेख क्यों किया है? 'ईश्वर'— इस भाव

१.सर्वे एव शब्दाः सर्वाकारार्थाभिधानसमर्था–इति स्थित एवैषां सर्वाकारैरर्थैः स्वाभाविकः सम्बन्धः।--व्यास - भाष्य की वाचस्पति मिश्र कृत टीका।

को व्यक्त करने के लिए तो सैकड़ों शब्द हैं। एक भाव के साथ हजारों शब्दों का सम्बन्ध रहता है। 'ईश्वर'—इस भाव का सैकड़ों शब्दों के साथ सम्बन्ध है और उनमें से प्रत्येक ईश्वर का वाचक है। फिर उन्होंने 'ॐ' को ही क्यों चुना? हाँ, ठीक है; पर वैसा होने पर भी उन शब्दों में से एक सामान्य शब्द चुन लेना चाहिए। उन सारे वाचको का एक सामान्य आधार निकालना होगा, और जो वाचक-शब्द सबका सामान्य होगा, वही सर्वश्रेष्ठ समझा जायेगा, और वास्तव में वही उसका यथार्थ वाचक होगा। किसी ध्वनि के लिए हम कण्ठ-नली और तालु का ध्वनि के आधार-रूप में व्यवहार करते हैं। क्या ऐसी कोई भौतिक ध्वनि है, जिसकी अन्य सब ध्वनियाँ अभिव्यक्ति हैं, जो स्वभावत: ही दूसरी सब ध्वनियों को समझा सकती है? हाँ, 'ओम्'(अउम्) ही वह ध्वनि है; वही सारी ध्वनियों की भित्तिस्वरूप है। उसका प्रथम अक्षर 'अ' सभी ध्वनियों का मूल है—वह सारी ध्वनियों की कुंजी के समान है, वह जिह्वा या तालु के किसी अंश को स्पर्श किये बिना ही उच्चारित होता है। 'म्' ध्वनि-शृंखला की अन्तिम ध्वनि है, उसका उच्चारण करने में दोनों ओठों को बन्द करना पड़ता है। और 'उ' ध्वनि जिह्वा के मूल से लेकर मुख के मध्यवर्ती ध्वनि के आधार की अन्तिम सीमा तक मानो ढुलकता आता है। इस प्रकार 'ॐ' शब्द के द्वारा ध्वनि-उत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया प्रकट हो जाती है। अतएव वही स्वाभाविक वाचक-ध्वनि है, वही सब विभिन्न ध्वनि की जननीस्वरूप है। जितने प्रकार के शब्द उच्चारित हो सकते हैं—हमारी ताकत में जितने प्रकार के शब्द के उच्चारण की सम्भावना है, 'ओम्' उन सभी का सूचक है। यह सब तात्त्विक चर्चा छोड़ देने पर भी, हम देखते हैं कि भारतवर्ष में जितने सारे विभिन्न धर्मभाव हैं, यह ओंकार उन सबका केन्द्रस्वरूप है, वेद के सब विभिन्न धर्मभाव इस ओंकार का ही अवलम्बन किये हुए हैं। अब प्रश्न यह है कि इसके साथ अमेरिका, इंग्लैण्ड और अन्यान्य देशों का क्या सम्बन्ध है? उत्तर यह है कि सब देशों में इस ओंकार का व्यवहार हो सकता है। कारण, भारत में धर्म के विकास की प्रत्येक अवस्था में—उसके प्रत्येक सोपान में ओंकार को अपनाया गया है, उसका आश्रय लिया गया है और वह ईश्वर सम्बन्धी सारे विभिन्न भावों को व्यक्त करने के लिए व्यवहृत हुआ है। अद्वैतवादी, द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी, भेदवादी, यहाँ तक कि नास्तिकों ने भी अपने उच्चतम आदर्श को प्रकट करने के लिए इस ओंकार का अवलम्बन किया था। मानव-जाति के अधिकांश के लिए यह ओंकार उनकी धार्मिक स्पृहा का एक प्रतीक बन गया है। अंग्रेजी गॉड (God) शब्द को लो। वह जिस भाव को प्रकट करता है, वह कोई अधिक दूर तक नहीं जा सकता। यदि तुम उसके अतिरिक्त अन्य कोई भाव उस शब्द से व्यक्त करने की इच्छा करो, तो तुम्हें उसमें विशेषण लगाना पड़ेगा- जैसे सगुण(personal), निर्गुण (impersonal), निर्विशेष (absolute) आदि आदि। अन्य दूसरी भाषाओं में ईश्वर-वाचक जो सब शब्द हैं, उनके बारे में भी यही बात घटती है, उनमें बहुत कम भाव प्रकट करने की शक्ति है; किन्तु 'ॐ' शब्द में ये सभी प्रकार के भाव विद्यमान हैं। अतएव सर्वसाधारण को उसका ग्रहण करना चाहिए।

तज्जपस्तदर्थभावनम्।।

(पातंजल योग सूत्र, समाधिपाद, सूत्र–२८)

इस (ओंकार) का जप और उसके अर्थ का ध्यान (समाधि-लाभ का उपाय है)।

जप अर्थात् बारम्बार उच्चारण की आवश्यकता क्या है? हम संस्कारविषयक मतवाद को न भूले होगें, हमें स्मरण होगा कि समस्त संस्कारों की समष्टि हमारे मन में विद्यमान है। ये संस्कार क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होकर अव्यक्त भाव धारण करते हैं। पर वे बिल्कुल लुप्त नहीं हो जाते, वे मन के अन्दर ही रहते हैं, और ज्यों ही उन्हें यथोचित उद्दीपना मिलती है, बस त्यों ही वे चित्तरूपी सरोवर की सतह पर उठ आते हैं। परमाणु—कम्पन कभी बन्द नहीं होता। जब यह सारा संसार नाश को प्राप्त होता है, तब सब बड़े बड़े कम्पन या प्रवाह लुप्त हो जाते हैं; सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, सभी लय को प्राप्त हो जाते हैं; पर कम्पन परमाणुओं में बचे रहते हैं। इन बड़े बड़े ब्रह्माण्डों में जो कार्य होता है, प्रत्येक परमाणु वही कार्य करता है। ठीक ऐसा ही चित्त के बारे में भी है। चित्त में होने वाले सब कम्पन अदृश्य अवश्य हो जाते हैं, फिर भी परमाणु के कम्पन के समान उनकी सूक्ष्म गति अक्षुण्ण बनी रहती है, और ज्यों ही उन्हें कोई संवेग मिलता है, बस, त्यों ही वे पुनः बाहर आ जाते हैं। अब हम समझ सकेंगे कि जप अर्थात् बारम्बार उच्चारण का तात्पर्य क्या है। हम लोगों के अन्दर जो आध्यात्मिक संस्कार हैं, उन्हें विशेष रूप से उद्दीप्त करने में यह प्रधान सहायक है। -***क्षणमिह सज्जनसंगतिरेका। भवति भवार्णवतरणे नौका।*** ''साधुओं का एक क्षण का भी सत्संग भवसागर पार होने के लिए नौकास्वरूप है''[१]। सत्संग की ऐसी जबरदस्त शक्ति है! बाह्य संत्सग की जैसी शक्ति बतलायी गयी है, वैसी ही आन्तरिक सत्संग की भी है। इस ओंकार का बारम्बार जप करना और उसके अर्थ का मनन करना ही आन्तरिक सत्संग है। जप करो और उसके साथ उस शब्द के अर्थ का ध्यान करो। ऐसा करने से, देखोगे, हृदय में ज्ञानालोक आयेगा और आत्मा प्रकाशित हो जाएगी।

'ॐ' शब्द पर मनन तो करोगे ही, पर साथ ही उसके अर्थ पर भी मनन करो। कुसंग छोड़ दो; क्योंकि पुराने घाव के चिह्न अभी भी तुममें बने हुए हैं; उन पर कुसंग की गर्मी लगने भर की देर है कि बस, वे फिर से ताज़े हो उठेंगे। ठीक इसी प्रकार हम लोगों में जो उत्तम संस्कार हैं, वे भले ही अभी अव्यक्त हों, पर सत्संग से वे फिर जाग्रत—व्यक्त हो जायेंगे। संसार में सत्संग से पवित्र और कुछ भी नहीं है, क्योंकि सत्संग से ही शुभ संस्कार चित्तरूपी सरोवर की तली से ऊपरी सतह पर उठ आने के लिए उन्मुख होते हैं।

---

१. शंकराचार्यकृत मोहमुद्गर।।५।।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।।

(पातंजल योग सूत्र, समाधिपाद, सूत्र–२९)

उससे अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है और जप (योग के) विघ्नों कर नाश होता है।

इस ओंकार के जप और चिन्तन का पहला फल यह देखोगे कि क्रमशः अन्तर्दृष्टि विकसित होने लगेगी और योग के मानसिक एवं शारीरिक विघ्नसमूह दूर होते जायँगे। योग के ये विघ्न क्या हैं?

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमि–
कत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।।

(पातंजल योग सूत्र, समाधिपाद, सूत्र–३०)

रोग, मानसिक जड़ता, सन्देह, उद्यमशून्यता, आलस्य, विषय-तृष्णा, मिथ्या अनुभव, एकाग्रता न पाना, और उसे पाने पर भी उससे च्युत हो जाना—ये जो चित्त के विक्षेप हैं, वे ही विघ्न हैं।

इस जीवन-समुद्र के उस पार जाने के लिए यह शरीर ही एकमात्र नाव है। इसे स्वस्थ रखने के लिए विशेष यत्न करना चाहिए। जिसका शरीर अस्वस्थ है, वह योगी नहीं हो सकता। मानसिक जड़ता आने पर हमारी योगविषयक सारी सजीव रुचि खो जाती है और इस रुचि के अभाव में, साधना करने के लिए न तो दृढ़ संकल्प होगा, न शक्ति ही मिलेगी। इस विषय में हमारा विचारजनित विश्वास कितना भी बलशाली क्यों न रहे, पर जब तक दूरदर्शन, दूरश्रवण आदि अलौकिक अनुभूतियाँ नहीं होती, तब तक इस विद्या की सत्यता के बारे में बहुत से संशय उपस्थित होंगे। जब इन सबका थोड़ा थोड़ा आभास होने लगता है, तब साधक भी साधना-मार्ग में और अध्यवसायशील होता जाता है। साधना करते करते देखोगे कि कुछ दिन या कुछ सप्ताह तो मन अनायास ही एकाग्र और स्थिर हो जाता है; उस समय ऐसा मालूम होगा कि तुम साधन-मार्ग में बहुत शीघ्र उन्नति कर रहे हो। अचानक एक दिन देखोगे कि तुम्हारा यह उन्नति-स्रोत बन्द हो गया है, मानो जहाज़ दलदल में फँस गया हो। पर उससे कहीं हताश मत हो जाना, अध्यवसाय मत खो बैठना। लगे रहो। इस प्रकार उत्थान और पतन में से होते हुए ही उन्नति होती है।

दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।।

(पातंजल योग सूत्र, समाधिपाद, सूत्र–३१)

दुःख, मन खराब होना, शरीर हिलना, अनियमित श्वास-प्रश्वास--ये सब (चित्त के) विक्षेपों के साथ साथ उत्पन्न होते हैं।

जब कभी एकाग्रता का अभ्यास किया जाता है, तभी मन और शरीर पूर्ण स्थिर-भाव धारण करते हैं। जब साधना ठीक तरीके से नहीं होती अथवा जब चित्त पर्याप्त संयत नहीं रहता, तभी ये सब विघ्न आ उपस्थित होते हैं। ओंकार के जप और ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण से मन दृढ़ होता है तथा नया बल प्राप्त होता है। साधना-मार्ग में ऐसी स्नायविक चंचलता प्रायः सभी को आती है। उधर तनिक भी ध्यान न दें, साधना करते रहो। साधना से ही वे सब चले जायेंगे और तब आसन स्थिर हो जायेगा।

संवीक्षण

कालजयी समृद्धशाली भारतीय इतिहास

इतिहास जीवाश्म नहीं जीवंत होता है। इतिहास के साथ वर्तमान का गहरा सम्बन्ध है। किसी भी राष्ट्र एवं उसकी संस्कृति की समृद्धि उसके अतीत के इतिहास पर निर्भर करती है। सांस्कृतिक सौंदर्य की अपूर्व झलक इतिहास के सार्थक बोध के बगैर असंभव है। भारतवर्ष की ऐतिहासिक धरोहर यहां की सांस्कृतिक सम्पदा ही है। ऐसे इतिहास के बारे में पूर्वी एवं पश्चिमी दृष्टिकोण में पर्याप्त भिन्नता है। इसे क्रमशः एकांगी एवं समग्र कहा जा सकता है। कुछ भी हो, इतिहास को समझने एवं जानने के लिए इतिहास बोध का होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

प्राचीनकाल में इतिहास और पुराण दोनों शब्दों से इतिहास का बोध होता था। इसका अर्थ इस प्रकार है, इति-ह-आस यानि कि ठीक ऐसा हुआ था। इतिहास शब्द की व्याख्या वेदों में भी की गई है। शौनक ऋषि के अनुसार वृहद देवता ग्रंथ में अधिक स्पष्ट रूप से लिखा है, ऋषियों द्वारा कही गई प्राचीनकाल की बात इतिहास है। देवासुर संग्राम के विषय में जो आख्यान है, वह भी इतिहास है। शतपथ ब्राह्मण में भी इसी सत्य को प्रकट किया गया है।

ऐतिह्य परम्परागत कथन को कहते हैं। यह इतिहास के कथन का ढंग है। इसी तरह परकृति, इतिवृत्त, उपाख्यान, अनुचरित, कथा, परिकथा, अनुवंश, गाथा आदि शब्द भी इतिहास से सम्बन्धित माने जाते हैं। रामायण, महाभारत, पुराण, राजतरंगिणी आदि सभी इतिहास के ही ग्रंथ हैं। इतिहास के इन सब प्रकारों का नाम गिनाने का अभिप्राय यह है कि भारत के प्राचीन वांङ्मय में ये सब प्रकार और कदाचित् इससे भी अधिक प्रकार थे, जिन्हें इतिहास कहा जाता था। सच तो यही है कि इतिहास बोध की सार्थकता उसके यथार्थ स्वरूप में निहित है।

इतिहास भले ही अतीत की कथा कहे, लेकिन वर्तमान से उसका अनन्य सम्बन्ध है। वर्तमान में जो कुछ है, उसके कार्य कारण की एक लंबी और बहुसूत्री परम्परा है। इसे केवल आपात् स्थिति में जानने का प्रयास किया जाता है। इसे जानने से घटना, क्रिया, वस्तु और विचार सभी के चरित्र अत्यंत स्पष्ट हो जाते हैं। प्रत्येक वर्तमान अपने पीछे इतिहास को छिपाए रखता है। इसकी जानकारी वर्तमान को और अधिक महत्ता एवं विशेषता प्रदान करती है। कोई भी वर्तमान अपने अतीत का समग्र योग नहीं होता है, बल्कि इतिहास के किन्हीं अवशिष्ट अंशों के संधि-बिन्दुओं पर एक नई परिघटनावली की उद्भास प्रक्रिया का अंग होता है। यह कार्य होने के साथ ही कारण में बदल जाता है। जो नए कार्यों और कारणों का बीज बनता चला जाता है। अतः इतिहास और वर्तमान का सम्बन्ध सर्वथा अविच्छिन्न होता है।

यदि वर्तमान का जन्म इतिहास से ठीक उसी तरह से होता, जैसे बच्चे का जन्म माँ के गर्भ से होता है, तो संभव है वर्तमान के होने और वर्तमान में जीने से लाभ-हानि का आकलन भी हो

पाता। परन्तु इतिहास का चरित्र केवल मनुष्य के निर्णयों और बातों पर निर्भर नहीं करता। वर्तमान हो या फिर इतिहास, यह सब बहुत सारे लोगों के निर्णय-अनिर्णय, क्रियाशीलता और निष्क्रियता का समन्वय होता है। हालांकि इन बहुत सारे लोगों के कार्यों और निर्णयों का मूल्यांकन सम्भव नहीं है फिर भी इस अनंत वैविध्य के समन्वित प्रभाव से वर्तमान का सामान्य चरित्र निर्धारित होता है।

वर्तमान लम्बाई-चौड़ाई से शून्य बिन्दु या मोटाई से रहित रेखा की तरह एक संकल्पना है, जिसके बिना हम अपनी स्थिति को समझ नहीं पाते। जहां वर्तमान चिर परिवर्तमान है और भविष्य मात्र एक संभाव्य कल्पना है, वहीं अतीत अकेला ऐसा है, जो ठोस यथार्थ के रूप में हमें उपलब्ध होता है। किसी वस्तुपरक चिंतन, जिससे भविष्य की तस्वीर गढ़ी जा सकती है या इसकी चुनौतियों का सामना किया जाता है, इसी ठोस सामग्री के आधार पर संभव है।

किसी व्यक्ति या राष्ट्र के जीवन में ऐसे विषम पल भी आते हैं, जब वह अपने इतिहास को भूलना चाहता है। प्राय: यह अपने ही कर्मों के लिए आत्मग्लानिवश होता है। वह महाकवि जयशंकर प्रसाद की कामायनी के मनु की तरह कहता है, "विस्मृति का अवसाद घेर ले, नीरवते बस चुप कर दे।" उसे अपने अस्तित्व से डर लगने लगता है। कभी-कभी वर्तमान भी इतना भयावह हो उठता है कि पीछे मुड़कर देखने का अवकाश नहीं मिलता। हमारी पूरी मानसिक ऊर्जा आत्मरक्षा में व्यय हो जाती है। आगे कोई भविष्य नहीं दिखाई देता। इसी कारण जो भी सुख का क्षण मिलता है, उसे पूरा भोग लेने की अदम्य लालसा उमड़ पड़ती है। परिणामत: अराजकता की स्थिति पनपने लगती है। क्षण में जीने वाला व्यक्ति सही ढंग से वर्तमान में भी नहीं जी पाता। वर्तमान से कटकर और भविष्य को समाप्त मानकर जीने वाले ऐसे व्यक्ति का जीवन अपने अंत की प्रतीक्षा मात्र होता है। हालांकि इस क्षण भर के भोग में भी उसे एक असह्य मानसिक यंत्रणा ही मिलती है।

आज का जीवन प्राय: इसी इतिहासहीनता और भविष्य हीनता के बीच सरक रहा है। ऐसी स्थिति के कारण ही कालबोध पीड़ादायक व त्रासजनक तथा देशबोध विघटन-वादी, अनियंत्रित एवं संकीर्ण हो चला है। आज के वर्तमान समय में झांककर यदि कहा जाए कि भारतीय इतिहास की हमारी पहचान खतरे में है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसके मूल में जाने पर पता चलता है कि पिछले समय में इतिहास के सम्बन्ध में पूरे समाज की भागीदारी न्यून रही है। कतिपय तथाकथित बुद्धिजीवियों ने इतिहास पर अपना वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश की और उन्होंने जितना सिखाया, उससे अधिक बहकाया।

जब इतिहास को एक छोटे से फलक में रखकर देखा जाता है और एकांगी रूप में पेश किया जाता है, तब इतिहासहीनता का एक शून्य पैदा होता है। इसे ही अंधकार युग कहा जाता है। इसमें किंवदंतियों का बोलबाला हो जाता है। यूरोप के मध्यकाल में ऐसा ही अंधकार युग आया था। अपनी इस उलझन से निबटने के लिए यूरोप ने अपने द्वारा भूले हुए यूनान की फिर से खोज की। अपने अतीत के गौरव की इस खोज से ही यूरोपीय सभ्यता आगे बढ़ी। भविष्य के रास्ते प्राय: अतीत में खुला करते हैं। इसलिए एक समृद्ध राष्ट्र एवं संस्कृति के लिए एक लम्बे इतिहास की आवश्यकता होती है।

जिन देशों के पास ऐसा दीर्घ व गहरा इतिहास नहीं होता, वे अपने पड़ोस के इतिहास के सूत्रों की तलाश करते हैं। इस क्रम में यूनानियों ने मिश्र से, अरबों ने यूनान से इसी तरह के सूत्र लिए थे। भारतीय इतिहास की नींव बड़ी गहरी है। कभी भारतीय इतिहास के सूत्रों ने विश्व के अनेक देशों को समाधान सुझाए थे, परन्तु आज तो हमें अपनी ही समस्याओं के समाधान के लिए व्यापक इतिहास बोध की आवश्यकता है।

भले ही हम सत्य को भूलने लगे हों, फिर भी सच्चाई यही है कि भारतीय इतिहास कालजयी एवं समृद्धशाली है। अपनी स्थानीय सीमाओं से ऊपर उठकर एक विशाल राष्ट्र के नागरिक होने का हमारा बोध भी अति प्राचीन है। पिछले हजार वर्ष के इतिहास में संकट के अनेक दौर आए परन्तु यह इतिहास कभी विनष्ट नहीं हुआ। इसका एक सुदृढ़ पक्ष यह भी है कि भारतीय इतिहास में समय-समय पर इतिहास पुरुषों का आविर्भाव होता रहा है। इन इतिहास पुरुषों ने अपनी प्रखर प्रज्ञा के द्वारा भारतीय इतिहास को ज्वलंत, जीवंत एवं जाग्रत बनाए रखा।

इतिहास के सम्बन्ध में पश्चिम का अपना दृष्टिकोण है और भारत का अपना। भारतीय दृष्टि की समग्रता इस सत्य में निहित है कि यहां इतिहास कभी भी मात्र घटनाक्रमों एवं तथ्यों के संकलन तक सीमित नहीं रहा। इसमें सांस्कृतिक मूल्यों, गौरवपूर्ण परम्पराओं एवं देवोपम संस्कारों के सार्थक विवरण का समावेश है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि इतिहास वह मंजूषा है, जिसमें संस्कृति की वेशकीमती संपदा संजोई है।

पाश्चात्य लेखकों का यह कहना कि भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास नहीं मिलता, उनकी अज्ञानता का ही सूचक है। इस अज्ञान का कारण यह है कि जब यूरोपियन लोग भारत आए तो उनका सम्पर्क भारत के ऐसे लोगों से हुआ, जो स्वयं पढ़े-लिखे नहीं थे। इसकी एक वजह यह भी थी कि भारतीय इतिहास लिखते तो थे परन्तु उनके इतिहास लिखने का उद्देश्य वह नहीं था, जो पाश्चात्य लेखकों का रहा है। यूनान, रोम, मिश्र, फ्रांस, इग्लैंड आदि देशों में वहां के राजा, रईसों, जमींदार तथा विजेताओं द्वारा इतिहास लिखने के लिए कुछ लोग नियुक्त किए जाते थे। परिणामस्वरूप वे इतिहास भी अपने मालिकों की इच्छानुरूप ही लिखते थे। भारतवर्ष के अतीत में यह प्रथा कभी नहीं रही। यहां के इतिहास लेखक किसी राजा के दरबारी गुलाम नहीं थे। वे प्राय: वनों में अपने आश्रमों में तपस्यारत रहते थे। उनके इतिहास लेखन का उद्देश्य अपने मालिकों को प्रसन्न करना नहीं था, वरन् जनसाधारण की ज्ञानवृद्धि करना होता था। जनसाधारण को इतिहास से क्या शिक्षा लेनी चाहिए, यही बताना उनका उद्देश्य था। इस कारण ऋषि महर्षि कहे जाने वाले ये इतिहासवेत्ता केवल इतिहास से सम्बन्धित घटनाओं को ही लिख देने में सन्तोष नहीं करते थे वरन् प्रत्येक घटना का कारण, उस घटना से उत्पन्न परिणाम तथा इसमें निहित सत्य के तत्त्वदर्शन का बोध करा देना आवश्यक समझते थे।

भारतीय इतिहास लिखने का ढंग, घटनाओं की विवेचना और कारणों परिणामों सहित लिखने की वजह से पाश्चात्य विद्वानों को यह कुछ और ही समझ में आया। पाश्चात्य इतिहासविदों की लेखन शैली और भारतीय इतिहासवेताओं की शैली में अन्तर होने के कारण उन्हें यहां इतिहास

दिखाई नहीं देता, जबकि भारतीय लेखकों द्वारा लिखित इतिहास, इतिहास तो है ही, परन्तु साथ ही उसमें जीवन के सत्य का भावबोध भी है।

कौटिल्य के समय में इतिहास का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि उन्होंने राजा के लिए प्रतिदिन इतिहास सुनना अपरिहार्य ठहराया। भारतीय इतिहास में अगणित विधाएं भी सम्मिलित थीं। तभी एक इतिहासकार के रूप में कल्हण को न केवल भारतीयों ने, बल्कि सर आरोल सटीन जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी मान्यता प्रदान की है।

आज इतिहास के प्रति दृष्टिकोण में भारी बदलाव आया है। इसके लिए लोकवृत्तों, गीतों को भी एक प्रमुख स्रोत माना जाने लगा है। लोकाश्रित इतिहास में समाज प्रधान हो जाता है और राजा गौण। पुराणों में पाई जाने वाली ऐतिहासिक सामग्री, लिपि का आविष्कार होने से हजारों साल पहले की है और उस समय समाज में अपने इतिहास के प्रति इतना गहरा लगाव था कि अपने प्रचार के लिए प्राय: सभी धर्मों ने इसे अपने साहित्य के अविभाज्य अंग के रूप में स्वीकार किया है।

भारतीय इतिहास लेखन की एक विशिष्टता यह भी है कि यहां इतिहास के विविध प्रकार उस समय भी प्रयुक्त हुए, जबकि किसी श्रेष्ठ लिपि की परिकल्पना भी नहीं हुई थी। तब से प्रचलित ये प्रकार चले और आज भी मिलते हैं। इस तरह भारतवर्ष में बसे लोगों का इतिहास विश्व के सभी देशों की अपेक्षा प्राचीन एवं समृद्ध है। जिस देश में इतिहास लेखन के अनेकों स्वरूप विद्वानों को विदित हैं, वहां इतिहास की कितनी महिमा रही होगी, उसकी कल्पना सहज की जा सकती है। वैदिक संस्कृति के महान् प्रवक्ता एवं इतिहास दर्शन के महान् वेत्ता स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, अपने प्राचीन इतिहास का अध्ययन कर हमें देखना चाहिए कि प्राचीन समय में शक्ति, सामर्थ्य तथा अन्य सभी प्रतिभा के क्षेत्रों में भारत कितना उन्नत रहा है। उन्होंने आगे स्पष्ट किया, भारत के लोग अपने अतीत का जितना गहराई से अध्ययन करेंगे, उनका भविष्य उतना ही उज्जवल होगा।

अखण्ड ज्योति पत्रिका
भाद्रपद-आश्विन, २०५७ (सितम्बर, २०००)
से साभार

वेद और वेदान्त

डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा

वेदान्त के स्वरूप को समझने के लिए वेदों और वैदिक साहित्य की जानकारी आवश्यक है। इस तथ्य को विश्व के सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि वेद ही विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ है। पाश्चात्य विद्वानों में जैकोबी ने ऋग्वेद का रचना-काल अन्य विद्वानों की अपेक्षा प्राचीनतम माना है। वे मानते हैं कि ऋग्वेद की रचना लगभग ३००० वर्ष ई०पू० हुई। किन्तु अब अनेक साक्ष्यों के आधार पर वेदों की रचना और वैदिक संस्कृति के समारम्भ का काल दस हजार वर्ष ई०पू० तक जा पहुँचा है।

ज्ञान की गहनता को ध्यान में रखते हुए वेदों को किसी अदृश्य सत्ता या परमात्मा द्वारा रचा हुआ माना गया है। मनुष्यों द्वारा न रचे जाने के कारण, इन्हें 'अपौरुषेय' कहा गया है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि वेदों की रचना वसिष्ठ, भरद्वाज, अत्रि, वामदेव, विश्वामित्र, गृत्समद, पराशर आदि ऋषियों के द्वारा की गयी हैं। वेद-मंत्रों के रचनाकारों में अनेक महिलाएँ भी विशेष उल्लेखनीय रही हैं। उनमें से कुछ के नाम हैं घोषा, विश्ववारा, लोमशा, लोपामुद्रा, सिकता, यमी, शची, श्रद्धा, सूर्या, अपाला, शाश्वती, इन्द्राणी आदि। ऋषियों ने माना है कि प्रभु की अपार कृपा से ही ऐसे अलौकिक ज्ञान से युक्त मन्त्र उनके अन्त:करण में उतरे हैं, अत: उन्होंने मन्त्र-रचना, का सारा श्रेय प्रभु को देते हुए विनम्रतावश स्वयं का मन्त्रों का द्रष्टा मात्र माना है— 'ऋषय: मन्त्रद्रष्टार:।'

वैदिक साहित्य : सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को निम्नलिखित पाँच वर्गों में रखा जा सकता है:—

(क) संहिताएँ : ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद चार संहिताएँ अर्थात् मंत्रों के संग्रह हैं। ऋग्वेद में अनेक देवी-देवताओं की स्तुतियाँ हैं, जिन्हें ऋचाएँ कहा जाता है। सामवेद संगीतप्रधान वेद है। इसमें केवल ७५ मंत्रों को छोड़कर शेष १२०० मन्त्र ऋग्वेद से चुनकर संकलित किये गये हैं। ये सारे मन्त्र संगीतप्रधान और गेय हैं। यजुर्वेद में यज्ञ और उससे सम्बन्धित कर्म-काण्ड का ज्ञान कराने वाले मन्त्र हैं। अथर्ववेद मुख्यत: अभिचार अर्थात् जादू-टोने का ग्रन्थ है। 'अथर्वन्' का अर्थ है जादू। किन्तु इसमें आयुर्वेद या औषधि-विज्ञान की सामग्री भी प्रचुर है।

(ख) ब्राह्मण-ग्रन्थ : यज्ञ तथा कर्म-काण्ड से सम्बधित ग्रन्थों को ब्राह्मण-ग्रन्थ कहा जाता है। इनमें वेदों की यज्ञपरक व्याख्या की गई है। ये मुख्यत: यज्ञ-विज्ञान और उससे सम्बन्धित हैं। प्रत्येक वेद के अलग-अलग ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। इनकी संख्या ११८० बतलायी जाती है, किन्तु इस समय केवल १८ ब्राह्मण ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं।

(ग) आरण्यक ग्रन्थ : आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों के स्थूल कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया में रचित ग्रन्थ हैं। इनमें यज्ञ तथा वेद-मन्त्रों की ब्राह्मण-ग्रन्थों से हटकर आध्यात्मिक चिन्तन और दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। इनमें जिस सूक्ष्म आध्यात्मिक चिन्तन के विकास का प्रारम्भ हुआ था,

उसी का चरम विकास आगे चल कर उपनिषद् ग्रन्थों में देखने को मिलता है। इनकी संख्या भी सौ से अधिक बतायी जाती है, किन्तु इस समय कुल ८ आरण्यक ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

(घ) उपनिषद् ग्रन्थ : उपनिषदों में सूक्ष्म ब्रह्म-ज्ञान का गहन और व्यापक विवेचन किया गया है। उपनिषद् शब्द उप और निषद् (नि+सद्) से मिलकर बना है। उप का अर्थ है निकट और निषद् का अर्थ है बैठना। गुरु की शरण में बैठ कर शिष्य द्वारा प्राप्त किया हुआ आत्मा, परमात्मा आदि का रहस्यमय गूढ़ ब्रह्म-ज्ञान ही उपनिषदों का मुख्य विषय है। उपनिषदों की संख्या १०८ बतायी जाती है। प्रमुख उपनिषद् १४ हैं— ऐतरेय, कौषीतकी, ईश (ईशावास्य), वृहदारण्यक, प्रश्न, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ, श्वेताश्वतर, महानारायणी, छान्दोग्य, केन, मुण्डक, माण्डूक्य।

(ङ) वेदांग : वेदों के अध्ययन में सहायक ग्रन्थों को 'वेदांग' कहा गया है। ये ग्रन्थ छह प्रकार के हैं:— (१) शिक्षा — इन ग्रन्थों में शब्दों के शुद्ध उच्चारण का ज्ञान कराया जाता है। (२) कल्पसूत्र — कल्पसूत्रों में यज्ञ-विधि का ज्ञान कराया जाता है। (३) व्याकरण — ये व्याकरण के गन्थ हैं। (४) निरुक्त - शब्दों की संरचना या निरुक्ति का ज्ञान कराने वाले ग्रन्थ 'निरुक्त' कहे गये हैं। (५) छन्द — छन्दों का बोध कराने वाले ग्रन्थ इसके अन्तर्गत आते हैं। (६) ज्योतिष् — ये ज्योतिष से सम्बन्धित हैं। ये वेदांग वेद के अंग माने जाते हैं। व्याकरण मुख है, शिक्षा नासिका है, निरुक्त कान हैं, ज्योतिष् आँखें हैं, कल्पसूत्र हाथ हैं तथा छन्द पाद (पैर) हैं।

उपर्युक्त वैदिक साहित्य में वेन्दात-दर्शन के निरूपण की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं — ऋग्वेद और उपनिषद् ग्रन्थ। अत: यहाँ इन दोनों का किंचित् और विस्तृत परिचय देने के उपरान्त वेदान्त के स्वरूप पर विचार किया जायेगा तथा तदुपरान्त, प्राचीन युग से लेकर स्वातन्त्र्य-युग तक के इतिहास को दृष्टि में रखते हुए परखा जायेगा कि किस प्रकार वेदान्त समूचे इतिहास की आत्मा के रूप में विभिन्न युगों के इतिहास को प्रभावित करता रहा है तथा बदले में युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप स्वयं भी नये-नये रूप ग्रहण करता रहा है।

ऋग्वेद-संहिता :

ऋग्वेद में दस मण्डल (अध्याय) हैं, जिनमें १०२८ सूक्त (ऋचाओं के संग्रह) और कुल मिलाकर १०५८० ऋचाएँ (मन्त्र) हैं। वैदिक साहित्य में यह प्राचीनतम है। ऋग्वेद शब्द ऋक्+वेद से निर्मित है। ऋक् का अर्थ है, ऋचा या स्तुति या प्रार्थना। ऋग्वेद में ३३ देवी देवताओं की स्तुतियाँ संकलित हैं। अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम, सूर्य, पर्जन्य, मरुत्, विष्णु, प्रजापति, रुद्र, सविता, मित्र, अश्विनीकुमार आदि प्रमुख देवता हैं तथा उषा, अदिति, श्रद्धा आदि देवियाँ हैं। मित्र, सविता, पूषा देवता सूर्य से ही विकसित हुए हैं। दशम मण्डल में मनस्, मन्यु (क्रोध), सत्य, वाक् (वाणी), ज्ञान आदि भावों या तत्त्वों की देवता के रूप में स्तुति की गई है।

देव-स्तुतियों में आर्यों की जीवन-दृष्टि और प्रवृत्तियों का मुक्त रूप में प्रकाशन हुआ है। यहाँ सकारात्मक और प्रवृत्तिपरक जीवन-दृष्टि तथा जीवन-शैली को उजागर करने वाली प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

आर्य-जीवन की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

(अ) उल्लासमयी, आशावादी, सकारात्मक दृष्टि : ऋग्वेद में आर्यों की जीवन-दृष्टि प्रवृत्तिपरक,

विकासोन्मुख, आशावादी है, निवृत्तिमूलक, नकारात्मक और निराशावादी नहीं। यह संतुलित दृष्टि ही उनके उल्लास की स्रोत है। वे विभिन्न देवी-देवताओं से पुत्रों, गायों, सुख, समृद्धि की कामना के साथ यश और विजय की भी कामना करते हैं। निराशा, उदासी, विरक्ति आदि की नकारात्मक प्रवृत्तियाँ उनके जीवन में नहीं हैं। प्रवृत्तिमूलक जीवन–दृष्टि ऋग्वेद में तो प्रचुर रूप में सुलभ है ही, अन्य वेदों में भी इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। यजुर्वेद (३९,४,३) में ऋषि कामना करता है कि यश और लक्ष्मी मेरे आश्रित होवें। किन्तु कामनाएँ ऋत से नियन्त्रित हैं। प्रवृत्तिपरक दृष्टि नियन्त्रित और संयत है।

(आ) प्रकृति और पर्यावरण के प्रति पूजा - भावना : ऋग्वेद में पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश में व्याप्त प्रकृति की सम्पूर्ण सत्ता में दिव्यता के दर्शन किये गये हैं। अतः पृथ्वी स्थानीय देवता अग्नि, पृथ्वी, सोम आदि तथा अन्तरिक्षस्थानीय देवता इन्द्र, मरुत्, पर्जन्य (मेघ), उषा आदि और आकाशस्थानीय देवता, सूर्य, वरुण, मित्र, पूषा आदि की पूजा के रूप में प्रकृति और पर्यावरण की पूजा की गयी है। यह पर्यावरण-शुद्धि का ही एक आस्थामूलक उपाय है। ये प्राकृतिक तत्त्व मनुष्य तथा अन्य जीवधारियों की जीवनी शक्ति के मूल स्रोत हैं। आर्यों की जीवन-दृष्टि मुक्त, आस्थामूलक, उदार और व्यावहारिक थी। साथ ही यह नितान्त नैसर्गिक थी। प्रकृति और संस्कृति का जैसा संगम वैदिक जीवन शैली में घटित हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यहाँ संस्कृति प्रकृति और पर्यावरण के मध्य से उपजती हुई प्रत्यक्ष दिखायी पड़ती है। यहाँ बाहरी प्रकृति ही भीतरी प्रकृति में ढल कर संस्कृति बन गयी है। वस्तुतः वैदिक धर्म प्राकृतिक (Natural) है। मानव की इसी मुक्त और सहज मनोदशा को गीता में 'अध्यात्म' कहा गया है — 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।'

(इ) नारी -शिक्षा : वैदिक युग में मुक्त जीवन-दृष्टि के कारण नर-नारी में कोई भेद नहीं था। यह दृष्टि स्वाभाविक या प्राकृतिक थी। स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही शिक्षा प्राप्त करती थीं। वे यज्ञोपवीत धारण करती थीं और सभाओं में शास्त्रार्थ में पुरुषों के साथ बढ़-चढ़ कर भाग लेती थीं। विदुषी महिलाओं की गणना ऋषिओं में की जाती थी। ऋग्वेद (१०, १५९, २-३) में शची नारी के गौरव का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अपने ज्ञान, तेज और शौर्य पर गौरव व्यक्त करती है। स्त्रियों को स्वयंवर का अधिकार प्राप्त था। पुस्तकीय शिक्षा के साथ शारीरिक व्यायाम की शिक्षा भी महिलाओं को पुरुषों के साथ दी जाती थी। इस सम्बन्ध में श्री वृन्दावनदास वर्मा का अभिमत है, ''उनको न केवल उच्च कोटि की आधिभौतिक और आध्यात्मिक शिक्षा दी जाती थी, वरन् पुरुषों के साथ शारीरिक व्यायाम आदि की भी शिक्षा दी जाती थी।''[१]

(ई) शौर्य, स्वातन्त्र्य और विजय में विश्वास : ऋग्वेद के देवताओं में इन्द्र, वीरता और पराक्रम के देवता हैं। वे असुरों पर विजय प्राप्त करने वाले हैं। इस शूरवीरता और विजय-भावना का आगे चलकर रामायण, महाभारत, रामचरितमानस आदि महाकाव्यों में विकास हुआ है। शौर्य, स्वतन्त्रता, विजय, उत्कर्ष की अनुभूतियाँ ऋग्वेद की ऋचाओं में प्रचुर हैं।

(उ) देवासुर -संग्राम : शक्ति, शूरवीरता, स्वातन्त्र्य और विजय की ही प्रवृत्ति का परिणाम था देवासुर-संग्राम। शतपथ ब्राह्मण (१४, ४, १, १) में लिखा है कि देव और असुर दोनों ही प्रजापति

(ब्रह्मा) की संतान थे। असुर बड़े थे तथा देव छोटे। उस समय असुर का अर्थ भी देव की भाँति गौरव का सूचक था। इसलिए ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में इन्द्र, वरुण, मित्र आदि को भी 'असुर' कहा गया है। ऋग्वेद (१, १७७, १) में अगस्त ऋषि ने इन्द्र को 'असुर' कहा है। आगे चलकर आर्यों का एक वर्ग वरुण और मित्र को ही अपना उपास्य या इष्ट मानते हुए केवल उन्हें ही 'असुर' की उपाधि से विभूषित करने लगा। इसकी प्रतिक्रिया में इन्द्र के उपासक इन्द्र, विष्णु आदि को 'देव' की उपाधि से गौरवान्वित करने लगे। दोनों में विरोध इस सीमा तक बढ़ा कि 'वरुण' और 'मित्र' के असुर-उपासक आर्यों को संग्राम में पराजित होकर ईरान भागना पड़ा। ईरान के ये आर्यजन ही पारसी धर्म के अनुयायी हैं। इनमें से अनेक अब भी भारत में रहते हैं। ये अब भी अग्नि, वरुण, मित्र की उपासना करते हैं। इनका विशिष्ट इष्टदेव है वरुण, जिसे ये 'अहुरमज्द' (असुर-महत्) कहते हैं। इनकी भाषा 'अवेस्ता' में स के स्थान पर ह ध्वनि का उच्चारण होता है। अत: इनकी भाषा में संस्कृत के अनेक शब्द बदले हुए रूप में मिलते हैं। ये 'सोम' को 'होम', 'असुर', 'अहुर' कहते हैं। कुछ भिन्न प्रकार के परिवर्तन भी पाये जाते हैं। यथा ये 'मन्त्र' को 'मन्थ्र', 'मित्र' को मिथ्र, 'यम' को इम कहते हैं। देवासुर – संग्राम में विकसित विद्वेष के कारण 'अवेस्ता' में 'देव' का अर्थ राक्षस या दानव हो गया तथा संस्कृत में असुर का अर्थ राक्षस हो गया। स्पष्ट है कि संस्कृत में 'असुर' शब्द पहले था 'सुर' उसके विपरीत अर्थ में बाद में आया। पहले तो असुर ही सुर के अर्थ में प्रयुक्त होता था।

(ऊ) ऋत अथवा सनातन नैतिक चेतना : वैदिक ऋषियों के अनुसार एक सनातन नैतिक चेतना विश्व-जीवन की मूल संचालिका-शक्ति है। इस सार्वभौम, सार्वकालिक नैतिक चेतना को 'ऋत' कहा जाता है। वरुण देवता सारी विश्व-व्यवस्था का नियमन और संचालन करने वाली 'ऋत' नामक नैतिक चेतना के संरक्षक माने गये हैं। प्रकृति और मानव का सारा जीवन ऋत के सनातन शासन में चलता है। वरुण हैं ऋत के रक्षक (गोप्ता ऋतस्य)। वे अनीति और असत्य के विनाशक हैं (ऋग्वेद ७, ८४, ४)। ब्रह्महत्या, मदिरा-सेवन, चोरी, गुरुपत्नी गमन, पाप करके छिपाना आदि सभी पाप हैं (ऋग्वेद १०, ५, ६)। वरुण की पारदर्शी दृष्टि से कोई पाप या पापी छिपा नहीं रहता। अत: वरुण से क्षमा-याचना करने पर ही पाप से मुक्ति मिल सकती है। एक ऋचा में ऋषि अपने पितरों तथा स्वयं अपने द्वारा किये गये पापों से मुक्त होने के लिए वरुण देव से प्रार्थना करता है, ''हे वरुण! हमें हमारे पितरों तथा स्वयं हमारे द्वारा किये गये पापों से मुक्ति दो (ऋग्वेद ७, ८६, ६)। इस प्रकार नैतिकता दिव्यता और आध्यात्मिकता से जुड़कर गूढ़ अर्थ ग्रहण कर लेती है, जो आर्य-जीवन की महती विशेषता है। वैदिक प्रवृत्तिपरक दृष्टि नैतिक चेतना से नियन्त्रित है।

(ए) स्वदेश - भक्ति और विश्व-प्रेम : वैदिक साहित्य में उदात्त भावों की मनोहर अभिव्यक्ति हुई है। अथर्ववेद के 'पृथिवी सूक्त' में राष्ट्र-प्रेम का उद्‌बोधक संदेश दिया गया है। एक मन्त्र (अथर्ववेद, १२, १, १२) में कहा गया है– ''माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:'' अर्थात् भूमि माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ। ऐतरेय ब्राह्मण (८,२६) में इस तथ्य को रेखांकित किया गया है कि राष्ट्र की उन्नति जनता के स्तर पर निर्भर है, अत: जनता ही राष्ट्र है – ''राष्ट्राणि वै विश:।'' अथर्ववेद (१०,७,१७) में लिखा गया है कि जो व्यक्ति मानव में ब्रह्म के दर्शन करते हैं, वे ही सच्चे ब्रह्मज्ञानी हैं– ''ये पुरुष ब्रह्म विदुस्ते विदु: परमेष्ठिनम्।'' इससे स्पष्ट होता है कि उपनिषदों की ब्रह्मविद्या के

स्रोत पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में निहित रहे हैं।

(ऐ) ऐतिहासिक सामग्री की प्रचुरता : वैदिक साहित्य में प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री बिखरी हुई है। अनेक विद्वानों ने समूची सुलभ सामग्री के आधार पर एक क्रमबद्ध इतिहास विकसित करने के प्रयास किये हैं, किन्तु बीच-बीच में इतिहास की अनेक कड़ियाँ लुप्त-गुप्त होने के कारण अभी तक इस दिशा में विशेष सफलता नहीं मिल सकी है। अभी तक इस क्षेत्र में बाबू वृन्दावनदास तथा डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार द्वारा किये गये सत्प्रयास सराहनीय हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् में इतिहास को 'पंचम वेद' माना गया है। पुराणों में चल कर जिन राजवंशों के इतिहास का विस्तार से निरूपण हुआ है, उनमें से अनेक के मूल स्रोत वैदिक साहित्य में मिलते हैं। रामायण, महाभारत और पुराणों में वैदिककालीन संक्षिप्त विवरणों ने पूरी कथाओं का रूप ले लिया है। ऋग्वेद के संवाद—सूक्तों, आख्यान—सूक्तों और दान—स्तुतियों के सूक्तों में अनेक राजाओं, दानदाताओं और शूरवीरों के उल्लेख मिलते हैं। उदाहरण के लिए, शर्याति के आख्यान में वैवस्वत मनु के मानव-वंश के राजा शर्याति की कथा है। शर्याति मनु के पुत्र थे। मनु के सबसे बड़े पुत्र इक्ष्वाकु थे, जिनके नाम पर इक्ष्वाकु-वंश चला, जो सूर्यवंश के नाम से प्रख्यात हुआ तथा जिसमें दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम आदि महान् राजा हुए।

नहुष के आख्यान में पुरूरवा के पौत्र, चन्द्रवंशी राजा नहुष की कथा है। मनु की कन्या 'इला' से विकसित होने के कारण इसे 'ऐल वंश' भी कहा जाता है। नहुष का बड़ा लड़का ययाति था, जो दिग्विजय के कारण 'चक्रवर्ती सम्राट्' के रूप में प्रसिद्ध हुआ। ययाति के पुत्र पुरु के नाम से प्रचलित पौरव वंश ही आगे चलकर दुष्यन्त के पुत्र भरत के नाम से प्रसिद्ध 'भारत वंश' में विख्यात हो गया। फिर संवरण के पुत्र राजा कुरु के नाम से 'भारत-वंश' ही 'कौरव-वंश' में परिणत हो गया।

उपर्युक्त वंशों के अनेक राजाओं की वैदिक मंत्रों के रचनाकार ऋषिओं में गणना की जाती है। डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने ऐसे मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का उल्लेख 'प्राचीन भारत का वैदिक युग' शीर्षक ग्रन्थ में किया है। वे लिखते हैं, ''इक्ष्वाकु वंश के प्रसिद्ध चक्रवर्ती सम्राट मान्धाता, अम्बरीष और त्रसदस्तु, ऐल वंश के पुरूरवा, नहुष और ययाति तथा पौरववंश के राजा सुदास द्वारा विरचित या दर्शन किये हुए मन्त्र वेदों के अन्तर्गत हैं।''[२] स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री अपने अन्दर समेटे हुए है। उसे खोजने और क्रमबद्ध रूप में व्यवस्थित करने की आवश्यकता है। किन्तु यह कार्य इतना सरल नहीं है।

(ओ) जनतान्त्रिक शासन -पद्धति : वेदों में 'सभा' और 'समिति' शब्द मिलते हैं। अथर्ववेद में 'सभा' और 'समिति' को प्रजापति की पुत्रियाँ कहा गया है। राजा इनके अनुग्रह की कामना करता है। ऋग्वेद की एक ऋचा में यही कामना की गयी है कि समिति में शान्ति, एकता और सहयोग की भावना बनी रहे। समितियों और सभाओं में जनतान्त्रिक व्यवस्था के अनुरूप वाद-विवाद और संवाद की छूट रहती थी। इस सम्बन्ध में बाबू वृन्दावनदास का कथन है — ''वैदिक काल में शासन अधिकांशत: प्रजासत्तात्मक होता था। उसके नेता वे बुद्धिमान और त्यागमूर्ति ब्राह्मण होते थे, जो जनता की श्रद्धाभिभूत सद्‌भावना के प्रतिनिधि हुआ करते थे। इस प्रकार की जनतन्त्र-शासन-व्यवस्था वेदसम्मत होने के कारण सबको मान्य थी।''[३]

(औ) दार्शनिक चिन्तन: बहुदेववाद से एकेश्वरवाद : ऋग्वेद में दिव्य प्राकृतिक शक्तियों अथवा विविध देवताओं के मध्य से दर्शन का विकास होता हुआ प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ता है। यहाँ दर्शन कोई आरोपित या परिकल्पित अवधारणाओं का जटिल ताना-बाना नहीं है। यहाँ दर्शन प्रत्यक्ष दर्शन पर आधारित है। अत: यह नितान्त विश्वसनीय, सुबोध और व्यावहारिक है। वैदिक ऋषि अग्नि, इन्द्र, वरुण, विष्णु आदि देवताओं की उपासना करते-करते स्वानुभूति के आधार पर इस नैसर्गिक निष्कर्ष पर पहुँचे कि देवताओं में कोई छोटा-बड़ा नहीं है। ये सभी समान रूप से सर्वोपरि और महत्तम हैं, क्योंकि इन सभी में एक ही परम सत्ता विद्यामान है। ऋग्वेद (१, १६४, ४६) में कहा गया है—''एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'' इसका अर्थ है कि सभी देवताओं में एक ही परम सत्ता निहित है, उसी को विद्वान् लोग अलग-अलग नामों से पुकारते हैं। निरुक्त (७, ४) में बहुत्व में निहित इसी एकत्व की स्थापना करते हुए कहा गया है कि ऐश्वर्यशाली होने के कारण एक ही दिव्यात्मा की (अनेक देवताओं के रूप में) अनेक प्रकार से उपासना की जाती है। स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य का बहुदेववाद ही एकेश्वरवाद या ब्रह्मवाद का मूल स्रोत है।

ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तों में प्रमुखतम है, 'पुरुष-सूक्त'। इसमें परमेश्वर को ही 'पुरुष' कहा गया है। पुरुष को हजारों शीश, हजारों आँखों, हज़ारों हाथ-पैरों वाला बताया गया है। वह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। सम्पूर्ण सृष्टि का विकास इसी पुरुष से बताया गया है। (ऋग्वेद १०, ९०,१-५)। ऋग्वेद का दूसरा महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सूक्त है, 'हिरण्यगर्भ सूक्त' (ऋग्वेद, १०, १२९)। इसमें हिरण्यगर्भ अर्थात् प्रजापति (ब्रह्मा) से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गयी है। ऋग्वेद (१०, १६४, १०) में जीवात्मा, परमात्मा, माया और जगत् के उल्लेख के माध्यम से उस वेदान्त दर्शन की पीठिका प्रस्तुत की गयी है, जिसका विकास उपनिषदों में विस्तार के साथ मिलता है। यह ऋचा इस प्रकार है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

अर्थात् सृष्टि-रूपी वृक्ष पर मित्र-रूप में दो पक्षी रहते हैं। उनमें से एक (जीवात्मा) सृष्टि-वृक्ष पर लगे अपने कर्म-रूपी फल का स्वादसहित भोग करता है तथा दूसरा (परमात्मा) फल न खाता हुआ, केवल देखता है। स्पष्ट है कि परमात्मा विश्व में व्याप्त होते हुए भी मायामुक्त होने के कारण निर्लिप्त और अनासक्त है तथा जीवात्मा मायाग्रस्त होने के कारण कर्मों के फल के भोग में लिप्त और आसक्त है। यही ऋचा मुण्डकोपनिषद् (३, १, १) में भी उपलब्ध है। यह तथ्य वैदिक चिन्तन परम्परा की अखण्डता को प्रमाणित करता है।

उपनिषद् ग्रन्थ : कुछ विशिष्ट तथ्य

वैदिक साहित्य के अधिकतर अध्येताओं ने उपनिषदों का रचना-काल ७०० ई०पू० से लेकर १०० ई०पू० तक व्याप्त माना है। ईश, छान्दोग्य, वृहदारण्यक को ७०० ई०पू० के आस-पास रचा हुआ माना गया है। ऐतरेय, तैत्तिरीय को ६०० ई०पू० के लगभग रचित माना गया है। प्रश्न, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य लगभग ५००-४०० ई०पू० की रचनाएँ हैं। कौषीतकी, मैत्रायणी, श्वेताश्वतर, महानारायणी उपनिषद् २०० ई०पू० से १०० ई०पू० के मध्य रचित ग्रन्थ

है।''[४] यहाँ उपनिषदों के कुछ विशिष्ट तथ्यों और आयामों पर प्रकाश डालना अभीष्ट है।

(अ) सुपात्र-कुपात्र की पहचान : उपनिषदों का ज्ञान परम पावन और गूढ़ था। अत: अल्प बुद्धि वाले, नैतिक दृष्टि से पतित, दुराग्रही और दुर्बुद्धि वाले लोग इस उच्च ज्ञान के अपात्र समझे गये। उपनिषदों का ज्ञान, गूढ़, गोपनीय और रहस्यमय माना गया। गुरु अपने परखे हुए सुयोग्य शिष्यों को ही अपने निकट बैठा कर इस ज्ञान का रहस्य समझाते थे। श्वेताश्वतरोपनिषद् (६, २२) में कहा गया है कि अशान्त मन वाले व्यक्ति को तथा उस व्यक्ति को, जो अपना पुत्र या शिष्य न हो, यह गूढ़ ज्ञान प्रदान नहीं करना चाहिए। छान्दोग्योपनिषद् (३, ५, २) में इस ज्ञान को 'गुह्यःआदेश:' तथा कठोपनिषद् (३,१७) में इसे 'परमं गुह्यं' अर्थात् नितान्त गोपनीय' बताया गया है। केनोपनिषद् (४,७) में 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ ही 'रहस्यमयी' ब्रह्म-विद्या है। यह सर्वोच्च ज्ञान सत्पात्र को ही प्राप्त हो, कुपात्र या अपात्र को नहीं- इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था।

(आ) ज्ञान-निष्ठा और सत्य-निष्ठा वर्ण-भेद से ऊपर : उपनिषदों के ऋषि ज्ञान और सत्य को वर्ण-व्यवस्था से ऊपर मानते थे। इस तथ्य का उत्तम उदाहरण है छान्दोग्योपनिषद् (४, ४) में सत्यकाम जाबाल का आख्यान। जब जाबाला नामक स्त्री का पुत्र सत्यकाम गौतम ऋषि के आश्रम में शिक्षा प्रारम्भ करना चाहता है, तो अपनी माँ से अपना वंश पूछता है। जाबाला उसे बताती है, ''तरुणावस्था में अपने पिता के अतिथियों का सत्कार करते समय मैंने तुम्हें गर्भ में धारण किया था। अत: तुम यही बताना कि मैं जाबाला का पुत्र 'सत्यकाम जाबाल' हूँ।'' सत्यकाम वंश के विषय में पूछे जाने पर यही बात गौतम ऋषि को बता देता है। ऋषिवर सारा सत्य जान कर कहते हैं, ''एक ब्राह्मण ही ऐसा कठोर सत्य बोल सकता है। अत: निश्चय की तुम ब्राह्मण हो। मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा।'' इससे स्पष्ट है कि ऋषि की दृष्टि में सत्यनिष्ठा ही सच्चा विप्रत्व है। सत्य निष्ठा और ज्ञान-निष्ठा के समक्ष वर्ण और वंश नगण्य हैं। सत्य और ज्ञान ही उच्चता की सच्ची कसौटी है। यह बात कवश के उदाहरण से भी सिद्ध होती है। कवश एक अब्राह्मण दासी के पुत्र थे, किन्तु मन्त्र-रचना की प्रतिमा के कारण उन्हें ऋषि के रूप में स्वीकार किया गया।

(इ) महिला-वैदुष्य के अनूठे उदाहरण : वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ऋषि की तीन पत्नियाँ प्रखर पाण्डित्य का उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। गार्गी अपने पति याज्ञवल्क्य से 'शक्ति' की उत्पत्ति के विषय में जब अपने प्रश्न दागती है, तो याज्ञवल्क्य तंग आकर कहते हैं, ''गार्गी इतने अधिक प्रश्न न करो कि तुम्हारा मस्तिष्क ही विदीर्ण हो जाये।'' इसी उपनिषद् में एक स्थल पर गार्गी याज्ञवल्क्य को लक्ष्य करके कहती है, हे याज्ञवल्क्य, जिस प्रकार कोई योद्धा धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर तथा अपने हाथ में दो वाण लेकर प्रहार के लिए खड़ा होता है, उसी प्रकार मैं तुम्हारे विरुद्ध दो प्रश्न लेकर खड़ी हुई हूँ, मेरे प्रश्नों का उत्तर दो।'' इसी उपनिषद् में कात्यायनी और मैत्रेयी का संवाद उनके वैदुष्य को प्रमाणित करता है। एक संवाद में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को आत्मा के विषय में उच्चतम ज्ञान का संदेश देते हैं।

(ई) यज्ञ के सूक्ष्म स्वरूप की प्रतिष्ठा : यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि जो अनुष्ठान प्रारम्भ में संस्कृति के संवाहक होते हैं, वे ही मानव-मन के कुमति-पक्ष से प्रभावित होकर बाद में विकृति के

वाहक बन जाते हैं। उदाहरण के रूप में 'यज्ञ' के परम पावन अनुष्ठान को लिया जा सकता है। जो यज्ञ प्रारम्भ में ऋषियों और प्रकृति की दिव्य शक्तियों के मध्य सम्बन्ध का पुनीत माध्यम था, वही आरण्यकों तक आते-आते अपने स्थूल कर्मकाण्ड की जटिलता और पुरोहितों की लोभ-लिप्सा के कारण विरोध का विषय बन गया। यज्ञ-विधान की कर्मकाण्डमूलक स्थूलता और जटिलता के प्रति आरण्यकों में जो प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई, वही उपनिषदों और गीता में विकसित होती हुई बौद्ध और जैन मतों के माध्यम से दो शक्तिशाली आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुई।

उपनिषदों में यज्ञ को स्थूल और दक्षिणाप्रधान, कर्मकाण्ड से मुक्त करके सूक्ष्म दार्शनिक स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् (३, १६-१७) में यज्ञ-दर्शन प्रस्तुत किया गया है और आत्मयज्ञोपासना के द्वारा पुरुष को अपने अक्षय, अच्युत, सूक्ष्म स्वरूप का ज्ञान कराया गया है। यहाँ घोर आंगिरस ऋषि वसुदेव और देवकी के पुत्र कृष्ण को सब तृष्णाओं का नाश करने वाली 'पुरुष-यज्ञविद्या' का उपदेश देते हैं, जिसमें तप, दान, सरलता, अहिंसा सत्य ही 'दक्षिणा' है। इसी चिन्तन का विकास गीता में दिखायी पड़ता है। दान (४, ३३) में ज्ञान-यज्ञ को स्थूल द्रव्य-यज्ञ से अत्यन्त श्रेष्ठ बताया गया है। गीता में ज्ञान-यज्ञ के साथ कर्म-यज्ञ का भी उल्लेख हुआ है। यज्ञ को कर्म से उत्पन्न बताया गया है - 'यज्ञ: कर्मसमुद्भव:'।

(उ) एकेश्वरवाद के साथ बहुदेवोपासना भी : ऋग्वेद से प्रारम्भ होने वाली बहुदेवोपासना की परिणति उपनिषदों में एकेश्वरवाद में हुई। किन्तु उपनिषदों में ही पुन: बहुदेवोपासना के उदय के उदाहरण मिलते हैं जिसका विकास गीता में और फिर बाद में पुराणों में हुआ। इस प्रकार अनेकता से एकता और फिर एकता से अनेकता की ओर उन्मुख होने से भारतीय धर्म-साधना का वृत्त पूरा हो जाता है। यह वृत्त सगुणोपासना से निर्गुणपासना और फिर निर्गुणोपासना से सगुणोपासना पर पहुँच कर पूरा होता है। इसमें एकेश्वरवाद-बहुदेववाद, निर्गुण-सगुण, सूक्ष्म-स्थूल, सिद्धान्त-व्यवहार, एकता-अनेकता के सामंजस्य का आदर्श निहित है। उपनिषदों में निर्गुण या अमूर्त आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में तो प्रचुर सामग्री है ही, किन्तु साथ ही देवोपासना के रूप में सगुणोपासना के भक्तिमूलक प्रसंग भी कम नहीं हैं।

यहाँ बहुदेवोपासना के भक्तिपूर्ण प्रसंगों के कुछ उदाहरणों का उल्लेख प्रासंगिक होगा। केनोपनिषद् में अग्नि, इन्द्र, वायु की महिमा का भावपूर्ण निरूपण हुआ है तथा दिव्य यक्ष के रूप में ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन कराये गये हैं। नीरस ज्ञान या दर्शन की अपेक्षा यह मूर्त रूप में प्रत्यक्ष दर्शन मानव-मन के लिए कहीं अधिक तृप्ति-दायक है। इसीलिए निर्गुण ज्ञान को सगुण भक्ति में ढलना ही पड़ता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में रुद्र और शिव की भक्ति के बहुत ही भाव-पूर्ण चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। भक्ति के उद्गारों ने उच्च कोटि की कविता का रूप ले लिया है। महानारायणी उपनिषद् में नारायण अथवा विष्णु को ही परम सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। माण्डूक्योपनिषद् में शिव की महिमा का वर्णन किया गया है।

(ऊ) दार्शनिकों में राजवंशी विद्वानों की प्रमुखता : प्रारम्भ में ही उल्लेख किया जा चुका है कि भारत में ऋषियों के साथ मुनियों की परम्परा भी समानान्तर रूप में चलती रही है। ऋषियों का सम्बन्ध ब्राह्मण-धारा से था तो मुनियों का सम्बन्ध श्रमण-धारा से था। ऋषि मुख्यत: प्रवृत्तिमार्गी थे, तो मुनि

मुख्यत: निर्वृत्तिमार्गी थे। ऋषियों में विप्रों की बहुलता थी, तो मुनियों में राजवंशी क्षत्रियों की। ऋषियों का निगम – ग्रन्थों से गहरा नाता था, तो मुनियों का आगम-ग्रन्थों से। वेदों की रचना में ऋषियों का योगदान सर्वोपरि था, तो उपनिषदों की रचना में राजवंशी क्षत्रियों का। प्रो० सत्यनारायण पाण्डेय तथा डॉ० रसिकबिहारी जोशी ने अपनी पुस्तक 'वैदिक साहित्य की रूपरेखा' में लिखा है, ''पुरोहित वर्ग यज्ञ-विज्ञान में संलग्न था और दार्शनिक वर्ग की विचार-परम्परा धीरे-धीरे अद्वैतवादी में प्रतिष्ठित हुई। यह धारा पुरोहित वर्ग के लिए हानिप्रद थी।''[५] उपर्युक्त पुस्तक में आगे लिखा गया है, ''उपनिषद् काल में हमें इसके प्रमाण मिलते हैं कि योद्धा जाति का वर्ग सर्वोच्च ज्ञान-सम्पन्न था और ब्राह्मण-जाति का वर्ग उनके पास उपदेश ग्रहण करने जाता था।''[६] वस्तुत: ब्राह्मण ग्रन्थों के रचना-काल से ही कुछ क्षत्रियवंशी विद्वान दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में अपनी धाक जमा चुके थे। शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें अध्याय में शास्त्रार्थ के एक प्रंसग में राजा जनक अपने तीखे तर्कों से श्वेतकेतु, याज्ञवल्क्य आदि प्रकाण्ड विद्वानों को हतप्रभ कर देते हैं।

उपनिषदों में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जब विप्र साधक और चिन्तक अपनी शंकाओं के समाधान के लिए क्षत्रियवंशी विचारकों का दिशा-निर्देश ग्रहण करते दिखलायी पड़ते हैं। छान्दोग्योपनिषद् (५, ३, ६-७) में वर्णित प्रसंग के अनुसार गौतम ऋषि पुनर्जन्म के सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से राजा प्रवाहण के पास जाते हैं, क्योंकि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम क्षत्रियों ने ही किया था। इसी प्रकार आत्मा से सम्बन्धित अनेक सूक्ष्म सिद्धान्तों का प्रतिपादन राजवंशी क्षत्रियों ने ही किया था। छान्दोग्योपनिषद् (५, ११-१८) में वर्णित एक प्रंसग के अनुसार आत्मज्ञान से सम्बन्धित कुछ शंकाओं को लेकर पाँच विद्वान ऋषिवर उद्दालक के नेतृत्व में राजा अश्वपति के पास जाते हैं, तथा राजा से उनका समाधान प्राप्त करके सन्तुष्ट लौटते हैं वृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार गार्ग्य बालाकि ऋषि काशीराज अजातशत्रु से आत्मा के विषय में उपदेश प्राप्त करते हैं।

उपनिषद् -महिमा

पहले भी लिखा जा चुका है कि वैदिक साहित्य के विकास के क्रम में उपनिषद् सबसे अन्त में रचे गये। इस आधार पर उपनिषदों को 'वेदान्त' कहा जाता है। इस स्थूल आधार के साथ ही 'वेदान्त' नामकरण का एक सूक्ष्म आधार भी है। यहाँ 'अन्त' का अर्थ ही है अन्तिम सीमा या पराकाष्ठा। उन उपनिषद् ग्रन्थों के चिन्तन को 'वेदान्त' कहा जाता है, जिनमें वेदों के ज्ञान की पराकाष्ठा या अन्तिम सीमा देखने को मिलती है। उपनिषदों में बहुदेववाद एकेश्वरवाद में परिणत हो गया। सगुणोपासना निर्गुणोपासना में बदल गयी। उपनिषदों के चिन्तकों को स्थूल, साकार, सगुण देवताओं में एक ही सूक्ष्म, निराकार, निर्गुण सत्ता के दर्शन हुए। यह सूक्ष्म सत्ता का साक्षात्कार ही वैदिक चिन्तन की अन्तिम सीमा है। यह सूक्ष्म सत्ता ही ब्रह्म है और उसका साक्षात्कार ही ब्रह्म-ज्ञान है। आत्मा में परमात्मा का यह दर्शन ही वेदान्त है। यही ब्रह्मविद्या है।

बहुदेववाद से एकेश्वरवाद, अनेकता से एकता, सगुणोपासना से निर्गुणोपासना, स्थूल से सूक्ष्म की ओर विकास का यह क्रम ऋग्वेद से ही प्रारम्भ हो गया था। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के स्थूल कर्मकाण्ड से यह बाधित होने लगा। अत: कुछ सूक्ष्म-चेता ऋषियों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों के स्थूल

यज्ञ–विधान और जटिल तथा आरोपित कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया में सूक्ष्म ब्रह्म–ज्ञान के आन्दोलन को आगे बढ़ाया और अरण्य अर्थात् जंगल में जाकर आरण्यक ग्रन्थों की रचना द्वारा आत्मा में ही परमात्मा के साक्षात्कार कराने वाली ब्रह्मविद्या के विकास में अपना सहयोग दिया। उपनिषदों ने स्थूल यज्ञ–विधान के विरुद्ध चलाये गये आरण्यकों के सूक्ष्म ब्रह्म–ज्ञान के क्रान्तिकारी आन्दोलन को अपने उत्कर्ष पर मानव की आत्मा में ही परमात्मा के साक्षात्कार के द्वारा मानव और मानवता के असीम उत्कर्ष तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करता है। मूलत: यह जीवन और जगत् के चरम विकास और उत्थान की सनातन व्यवस्था प्रस्तुत करने वाला शाश्वत चिन्तन है।

मानव के चरम विकास और परम कल्याण का रास्ता दिखाने वाले वेदान्त की महिमा को विदेशी विद्वानों ने भी मुक्त मन से स्वीकार किया है। जर्मन विद्वान विन्तरनित्ज़ (Winternitz) ने वेदान्त को 'मानव–महिमा' का सिद्धान्त कहा है। अन्य महान् जर्मन–विद्वान शोपेनहार (Schopenhauer) ने उपनिषदों के इस महान् दर्शन की महिमा पर प्रकाश डालते हुए कहा है– "In the whole world, there is no study so beneficial and elevating as that of upnishads. It has been the solace of my life and it will be the solace in my death. "[७] अर्थात् 'उपनिषदों के समान जीवन को उदात्त बनाने वाली कोई पाठ्य सामग्री पूरे विश्व में अन्य कोई नहीं है। उपनिषदों के अध्ययन से मुझे जीवन में शान्ति मिली है और मेरी मृत्यु में भी इससे शान्ति मिलेगी।' रूसी इतिहासकार ग्रि०म० बोंगर्द–लेविन ने उपनिषदों को भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों को आपस में जोड़ने वाला सम्बन्ध–सूत्र माना है तथा उन्हें भारतीय सस्ंकृति की अखण्ड और अविच्छिन्न निरन्तरता की श्रृंखला के रूप में देखा है। वे लिखते हैं, ''इस प्रकार उपनिषद् भारतीय इतिहास में इतिहास के दो युगों को जोड़ने वाले संयोजन–सूत्र के परिचायक और व्यापक अर्थों में सम्पूर्ण सांसस्कृतिक परम्परा की निरन्तरता के प्रतीक बन गये हैं।''[८]

यहाँ यह ऐतिहासिक तथ्य विशेष उल्लेखनीय है कि यूरोपीय देशों में उपनिषदों के तत्त्व–ज्ञान के प्रचार–प्रसार का श्रेय मुगल–सम्राट शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह को प्राप्त है। दाराशिकोह ने सन् १६४० में काशी और अन्य नगरों से संस्कृत के विद्वान पण्डितों को बुलाकर छह मास तक उपनिषदों की व्याख्या सुनी और उससे मुग्ध होकर सन् १६५६ में पचास उपनिषदों का फारसी अनुवाद 'औपनिखत' अपनी देखरेख में कराया। पूरे ग्रन्थ का नाम 'सिदरी अकबर' है, जिसका अर्थ है, 'महान ज्ञान'। सन् १७५५ में फ्रैन्च विद्वान एन्क्विटिल डयूपैराँ (Anquetil Duperron) भारत आया। उसने दाराशिकोह के 'औपनिखत' का फारसी से लैटिन में सन् १८८१–८२ में अनुवाद किया, जिसे पढ़कर प्रख्यात जर्मन विद्वान शापन–हार (Schopenhauer) विशेष प्रभावित हुआ। शापनहार ने उपनिषदों का उच्चतम मानवीय ज्ञान और विवेक का फल (Fruit of highest human knowledge and wisdom) बतलाया और कहा कि उपनिषदों के रचनाकारों को सामान्य मनुष्य समझना भूल होगी। इसके पश्चात् तो यूरोप की विभिन्न भाषाओं में उपनिषदों के अनुवादों की एक पूरी शृंखला ही प्रारम्भ हो गयी। एफ मिशल(F. Mischel) ने सन् १८८२ में जर्मन भाषा में अनुवाद किया। मैक्समूलर (Maxmuller) ने सन् १८८४ में अंग्रेजी में अनुवाद किया। ओ० बोहट लिंक (O. Bohtlingk) ने १८८९ में तथा डॉ० पाल ड्यूसन

(Dr. Paul Duussen) ने सन् १८९४ में जर्मन भाषा में अनुवाद किये।

उपनिषदों और गीता के माध्यम से वेदान्त के संदेश की देश और विदेश में इतनी लोकप्रियता का मूल कारण यह है कि इसको प्रस्तुत करने वाले रचनाकार उत्तम चिन्तक के साथ ही उस चिन्तन को जन-जन की अनुभूति का विषय बनाकर सरस कविता के साँचे में ढालने वाले रचनाधर्मी, सहृदय कवि भी थे। शुद्ध और शुष्क दर्शन की अपेक्षा चिन्तन और अनुभूति के रासायनिक मिश्रण से उपजी कविता जन-मन को भावित और प्रभावित करने में अधिक सफल होती है। यही कारण है कि श्री बादरायण के द्वारा गद्य में लिखा गया वेदान्तत्रयी का तीसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' इने-गिने आचार्यो तक ही पहुँच कर रह गया है। यह ग्रन्थ दर्शन की शुद्ध शास्त्रीय शैली में लिखा गया है। इसके विपरीत उपनिषदों के सृजनशील, कविर्मनीषी, रचनाकारों ने दार्शनिक चिन्तन को शुष्क शास्त्रीयता के यान्त्रिक बन्धन से मुक्त करके, सरस, जीवन्त, व्यवहारोपयोगी, अनुभूतिपूर्ण शैली में प्रस्तुत किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मानवीय अनुभूति और व्यवहार से कटा हुआ चिन्तन -भले ही वह कितना ही ऊँचा क्यों न हो– नितान्त नीरस, निरर्थक और अप्रासंगिक सिद्ध होता है।

वेदान्त का स्वरूप

वेदान्त-चिन्तन के प्रमुख घटक हैं — ब्रह्म, जीवात्मा, जगत्, माया और मोक्ष। निर्गुण ब्रह्म निराकार, निर्विकार, अनादि, अनन्त, सार्वकालिक , सार्वभौम सत्ता है। यह ब्रह्म सत्य तत्त्व भी कहा गया है।''[१०] सत्य तत्त्व के रूप में ब्रह्म सनातन नैतिक चेतना या ऋत सत्य है। धर्म की धारक नैतिक चेतना का जीव और जगत् के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए वह निर्गुण ब्रह्म ही सगुण ब्रह्म का रूप लेता है। यदि निर्गुण ब्रह्म एक निरपेक्ष अलौलिक सत्ता है, तो सगुण ब्रह्म (अवतार) उस अलौकिक सत्ता का लौलिक रूपान्तरण है। अत: सगुण ब्रह्म अलौलिक भी है और लौकिक भी। यदि निर्गुण ब्रह्म ज्ञान-ध्यान का विषय है, तो सगुण ब्रह्म मर्यादा-पुरुष के रूप में अनुकरणीय और अनुसरणीय होने के कारण प्रेम और भक्ति का आलम्बन है। जीवात्मा मूल रूप में ब्रह्म का अंश होने के कारण ब्रह्म ही है। छान्दोग्योपनिषद् में 'अयमात्मा ब्रह्म' कह कर आत्मा को ही ब्रह्म बताया गया है। माया का सिद्धान्त जीवात्मा की अच्छी-बुरी, विकृत-संस्कृत, ऋत-अनृत जीवन-दृष्टि पर आधारित है। अविद्या से ग्रस्त कुमति और कुदृष्टि से प्रेरित जीव बंधन-ग्रस्त रहता है तथा सुमति-सम्पन्न विद्या से प्रेरित जीव बन्धनों से मुक्ति पा लेता है। अविद्या बन्धन का कारण है, तो विद्या मुक्ति का मार्ग है। अत: जीव को अविद्या के काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों से विमुख होकर विद्या या ज्ञान-दृष्टि द्वारा सुझाये गये सदाचार और संस्कृति के सन्मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। सन्मार्ग का सनातन स्रोत है, सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म। अत: जीव को ज्ञान-ध्यान के माध्यम से आत्मा में परमात्मा की निर्विकार नैतिक सत्ता का साक्षात्कार करते हुए उसके साथ अद्वैतावस्था स्थापित करनी चाहिए। वस्तुत: उपनिषदों में आत्मा-परमात्मा के अद्वैत पर ही बल नहीं है, वरन् चिन्तन को बहुआयामी और सर्वांगीण स्वरूप प्रदान करने के लिए आत्मा और जगत् तथा ब्रह्म और जगत् के अद्वैत पर भी पूरा बल दिया गया है। जगत् के दिव्यीकरण के उद्देश्य से कहा गया है कि यह सारा

जगत् ब्रह्म है— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' जगत् को इस दिव्य महिमा से मण्डित करने का उद्‌देश्य यह है कि जीव केवल आत्मनिष्ठ होकर आत्म-कल्याण तक ही सीमित न रहे, वरन् समूचे जगत् में परमात्मा की दिव्य सत्ता के पावन प्रसार का अपनी आत्मा में साक्षात्कार करते हुए लोक-कल्याण की मंगलकारी तथा अमंगलहारी व्यापक जीवन-दृष्टि से प्रेरित होकर ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' के महान आदर्श के अनुसरण में प्रवृत्त हो जाये। केवल आत्मोद्धार ही मोक्ष का मार्ग नहीं है, लोकोद्धार भी उतना ही मूल्यवान मुक्ति का मार्ग है। आज के जनतन्त्र के युग में तो, लोक-कल्याण की इस व्यापक जनतान्त्रिक जीवन-दृष्टि की और भी अधिक आवश्यकता है। नेताओं को स्वार्थ-सेवा के संकीर्ण और पतनोन्मुखी मार्ग से विमुख होने तथा जन-सेवा के उत्थानोन्मुखी मंगल-मार्ग की ओर उन्मुख होने के लिए वेदान्त के उपर्युक्त जन-सेवा और परमार्थ-सिद्धि के मुक्ति-मार्ग को अपनाना श्रेयस्कर सिद्ध होगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मा-परमात्मा का अद्वैत तो आत्मोद्धार के लिए महत्त्वपूर्ण है ही, किन्तु ब्रह्म से व्याप्त इस परमात्म-रूप जगत् के साथ आत्मा का अद्वैत जीवात्मा को अपने सामने उपस्थित प्रत्यक्ष ब्रह्म की उपासना का सुअवसर प्रदान करने के कारण और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इससे जीव को प्रेरणा मिलती है कि वह राष्ट्र तथा विश्व के कल्याण के लिए अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को न्योछावर कर दें तथा देश और मानवता की रक्षा और भलाई के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग और बलिदान देने के लिए तत्पर रहे। समष्टि के लिए व्यष्टि का उत्सर्ग ही सच्चा मुक्ति-मार्ग है। आत्मा-परमात्मा के अद्वैत में आत्मोत्कर्ष की अनुभूति होती है, तो आत्मा और जगत् के अद्वैत में आत्म-प्रसार, आत्म-विस्तार और आत्म-त्याग की दिव्य अनुभूति होती है। यह अद्वैतावस्था ही साधक की आनन्दवस्था है, जिसमें लौलिक आसक्तियों और उनसे जुड़े हुए सुख-दु:ख, हानि-लाभ के द्वन्द्वों से छुटकारा मिल जाता है और जीवात्मा कुण्ठामुक्त होकर वैकुण्ठी स्थिति में अवस्थित हो जाती है। यह वैकुण्ठी मनोदशा ही जीव की जीवन्मुक्ति है, जो इस जीवन में ही सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्ति का बोध कराती है।

वेदान्त मानव-कल्याण और विश्व-कल्याण का दर्शन है। सर्वकल्याणकारी परमात्मा का कल्याण इसका उद्‌देश्य नहीं है। किन्तु सनातन सत्य (ऋत) के धारक और विश्व-नियन्ता परमात्मा की दिव्यता के प्रति मानव मात्र की सच्ची श्रद्धा, भक्ति और समर्पण की भावना जगाकर जन-जन के तन, मन , आचरण और समग्र वैश्विक जीवन को उस दिव्यता से आलोकित करना ही वेदान्त का परम लक्ष्य है। ब्राह्मी दिव्यता से आलोकित जीवन ही सच्चा समुन्नत और आध्यात्मिक जीवन है। भौतिकता और भौतिक आसक्तियों पर आत्मा की विजय ही आध्यात्मिकता है, जिसका स्रोत परमात्मा है। आत्मा में परमात्मा का साक्षात्कार करने वाला ब्रह्मद्रष्टा साधक ही निष्कामकर्मी कर्मयोगी के रूप में जन-कल्याण और विश्व-मंगल में समर्पित भाव से संलग्न रहता है। कामनाओं, लिप्साओं से मुक्त रहने के कारण वह भव-बन्धनों से भी मुक्त रहता है। ऐसा साधक जीवन में ही स्वाभाविक रूप से मुक्त रहने के कारण 'जीवन्मुक्त' कहलाता है और मरणोपरान्त विदेह मुक्ति प्राप्त करके सदा के लिए जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। स्वामी विवेकानन्द ने उपनिषदों में

प्रतिपादित जीवन्मुक्ति की वर्तमान सन्दर्भ में व्यावहारिक व्याख्या करते हुए इसे शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक 'स्वतन्त्रता' कहा है तथा इस बहुआयामी स्वतन्त्रता को उपनिषदों का मूल मन्तव्य माना है।[११]

अध्यात्म, मुक्ति-चेतना, स्वातन्त्र्य-चिन्तन के साथ ही उपनिषदों का दर्शन सनातन सत्य अथवा नैतिक चेतना को मानव के मंगल और मुक्ति का मूलाधार मानता है। मुण्डकोपनिषद् (३, २, ४) में कहा गया है कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:' अर्थात् बलहीन साधक आत्मसाक्षात्कार नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि यहाँ तन, मन आचरण की सात्त्विकता और शक्ति को ही आत्म-साक्षात्कार के लिए आवश्यक माना गया है। इस प्रकार वेदान्त एक शक्ति दर्शन भी है। आत्म-शक्ति से ही अविद्याजन्य विकारों और लालसाओं पर विजय पायी जा सकती है। आत्म-कल्याण के साथ विश्व-कल्याण भी सच्चे साधक का पावन ध्येय है। परमात्मा की सारी दिव्यता की सार्थकता मानव-मंगल और विश्व-कल्याण में है।

संदर्भ सूची :

१. श्री वृन्दावनदास, प्राचीन भारत के हिन्दू राज्य, पृ० १५३-१५४
२. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, पृ० १७१-१७२
३. बाबू वृन्दावनदास, प्राचीन भारत के हिन्दू राज्य, पृ० १६४
४. डॉ० कर्णसिंह वर्मा, वैदिक साहित्य का इतिहास, पृ० १०३
५. प्रो० सत्यनारायण पाण्डेय तथा डॉ० रसिक बिहारी जोशी, वैदिक साहित्य की रूपरेखा, पृ० १७९
६. उपर्युक्त, पृ० १८२
७. दे० डॉ० कर्णसिंह वर्मा, वैदिक साहित्य का इतिहास, पृ० १०१ पर उद्धृत।
८. को० ओ० अन्तोनोवा आदि, भारत का इतिहास पृ० ७२
९. डॉ० शिवानन्द, सनातन धर्म के स्तम्भ– उपनिषद् (लेख) प्र० सम्पा० रामदत शर्मा शास्त्री, सनातन धर्म-सभा शताब्दी–ग्रन्थ (ग) पृ०३९-४० तथा पृ० ४८
१०. सम्पा० कालिकाप्रसाद आदि, बृहत् हिन्दी कोश, पृ०८२७
११. डॉ० शिवानन्द, सनातन धर्म के स्तम्भ– उपनिषद्, प्र० सम्पा० श्री रामदत शर्मा शास्त्री, सनातन धर्म-सभा शताब्दी-ग्रन्थ, खण्ड (ग) पृ०

५५, सैक्टर-१, हुडा रोहतक-१२४००१
हरियाणा, दूरभाष : ०१२६२-२७३३९६९

पुरा-वृत्त

जालन्धर दैत्य की तप:स्थली - जालन्धर पीठ

डॉ० वेद प्रकाश अग्नि

त्रिगर्त क्षेत्र का इतिहास निश्चय ही समग्र जीवन-दृष्टि का इतिहास रहा है, इसलिये यह प्रतीकों, आध्यात्मिक और आधिदैविक उपादानों से पूरी तरह ओत प्रोत है। उन पर से रहस्य का कुहासा हटाए या समझाए बिना उनका मर्म पा जाना सरल नहीं है। यह डगर यद्यपि पुरानी है, पर काल की ढेरी में दबी हुई पुरातत्त्व की परतों को स्तर-स्तर पर खोलने वाली जोखिम और परिश्रम से भरी डगर है। यहां इसके एकाध पहलुओं पर ही विचार किया जाएगा।

त्रिगर्त क्षेत्र वैदिक साहित्य एवं आस्था का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र रहा है। इसमें विद्यमान जालन्धर महापीठ का भारतीय संस्कृति के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान रहा है। भारतीय आध्यात्मिक उत्थान को गति देने वाले चार पीठों में जालन्धर पीठ का अनन्य स्थान रहा है और कतिपय कमियों के आ जाने के बावजूद भी इस पीठ का महत्त्व बना हुआ है। सारे देश के कोने-कोने से लाखों की संख्या में श्रद्धालु यहाँ प्रति वर्ष आकर अपनी कामना पूर्ति करते हुए आत्मिक शान्ति का लाभ करते हैं, यह बात किसी से छिपी नहीं है।

'पीठ' और 'क्षेत्र' ये दो शब्द आध्यात्मिक स्थानों से जुड़े हुए होते हुए भी अपना विशिष्ट अर्थ रखते हैं। 'पीठ' कहे जाने वाले अधिकांश स्थान प्राय: 'शक्ति' से संबंध रखते हैं तथा माया साम्राज्य के अन्तर्गत आने वाली समस्त लौकिक अभ्युदय की सारी सकाम गतिविधियाँ उसे जुड़ी हुई हैं। इसका यह अर्थ है कि निष्काम गतिविधियाँ उसके साथ हैं ही नहीं, ऐसा मानना ठीक नहीं होगा, मात्र मूल्यवत्ता की बहुलता और अधिमानता को बल देने के लिये ऐसा कहा गया है। 'क्षेत्र' स्थल वे हैं जहाँ विशेषयता पूर्व कर्मों के आध्यात्मिक उन्नति में बाधक मलों या पापों का क्षय अथवा धुलाई उनके विधिपूर्वक सेवन से हो जाती है। इस तरह पूर्व संचित मल के धुल जाने से आध्यात्मिक ज्ञान का बोध सम्भव हो जाता है तथा आत्मोन्नति की बाधाएं मिट जाती हैं। इस अर्थ में 'रामेश्वरम्' क्षेत्र है, त्र्यंबकेश्वरम् क्षेत्र है। जालन्धर पीठ का महाकाल क्षेत्र है, कालेश्वर या कलेसर क्षेत्र है।

जालन्धर पीठ का महत्त्व इसलिये भी है कि इस पुण्यभूमि में पीठ तथा क्षेत्रों की साधनाओं का अद्‌भुत सामञ्जस्य हुआ है जो देश के अन्य भागों में अन्यत्र दुर्लभ है।

जालन्धर पीठ का क्षेत्र विस्तार पुराने परिक्रमा- मार्ग मानों से अड़तालीस कोस माना गया है। तब कोस का विस्तार कुछ अधिक रहा था। मध्यमान से ८४ कोस का विस्तार कहा गया है जोकि विस्तार के बदलते मानदण्डों का परिचायक होते हुए भी ८४ लाख योनियों की राह से गुज़र

जाने का भी संकेतक है। जो भी पुराने मान के संकेत परिक्रमा मार्ग के प्रमाण मिलते हैं उनकी चर्चा आगे की जाएगी। यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सम्वत् १८५३ के माघ प्रविष्ठ १५ में प्रतिलिपित श्री महा श्रीत गुणात्मक ज्ञाति नीलकंठ ने जैसा देखा था वैसा ही परिक्रमा मार्ग को प्रतिलिपि से लिप्यन्तर किया। इसमें 'ततिम्मेवार' स्थान, परिक्रमा मार्ग संकेत, पुण्य-स्थानों पर रात्रि-विश्राम करने की अवधि आदि का ब्योरा देते हुए भी यह स्वीकार किया गया है कि अंग्रेजी राज्य के आगमन से कुछ कच्चे मार्गों के निर्माण के कारण प्राचीन मार्गों में थोड़ा सा बदलाव आया है।

इस संबंध में एक और बात का यहाँ विचार कर लेना प्रासंगिक होगा कि जालन्धर पीठ में दुर्गा के नौ रूपों में से आठ रूपों तथा द्वादश स्वयंभू तेजोलिगों की विद्यमानता इस पीठ को ऐसी अद्वितीय हैसीयत प्रदान कर देती है जो देश के अन्य भागों में अन्यत्र समूचे भारतवर्ष में अनुपलब्ध है। संपूर्ण भारतवर्ष में प्रतिष्ठित द्वादश ज्योतिर्लिंगों का विस्तार पर्याप्त अन्तराल के साथ-साथ दूर-दूर तक फैला हुआ है। भारतवर्ष के मात्र एक-आध प्रदेश में ही दो ***ज्योतिर्लिंग*** उपलब्ध होते हैं, कहीं पर एक ही ज्योतिर्लिंग है, किसी प्रदेश में एक भी नहीं है, परन्तु त्रिगर्त भूमि विशेषता कांगड़ा परिक्षेत्र के जालन्धर महापीठ में आड़तालीस-कोसी पुण्यभूमि में द्वादश तेजोलिगों की उपस्थिति निश्चय ही इस क्षेत्र की ओर गंभीर मार्मिक संकेत करती है। इस संकेत और सृष्टि की महत्ता और भी बढ़ जाती है जब यह पता चलता है कि विश्व के दार्शनिक इतिहास में अपना गरिमापूर्ण स्थान रखने वाला त्रिक्-दर्शन-काश्मीर शैव-दर्शन की साधनात्मक अनुभूति की लीलास्थली जालन्धर पीठ का क्षेत्र विशेषतया आज की कांगड़ा तहसील और पुराने नगरकोट का निकटवर्ती क्षेत्र रहा है। काश्मीरी शैवमत के त्रिक्दर्शन के प्रवर्तक अभिनवगुप्तपाद की गुरु परम्परा में पूजित आचार्य शम्भुनाथ कांगड़ा के आस पास के क्षेत्र के ही रहने वाले थे। उनका समय सातवीं शताब्दी से आठवीं तक माना जाता है। संभवत: वह नगरकोट पर महमूद के आक्रमण से पहले विद्यमान थे। उन्होंने वज्रेश्वरी धाम में पच्चीस-तीस वर्ष तक जमकर साधना की थी। यह बात लोक स्मृति में सुरक्षित है। इसकी पुष्टि काश्मीरी शैवदर्शन के अनुयायी विनीत आभारभरित भाव से करते आए हैं। जम्मू संस्कृत विद्यापीठ के प्रसिद्ध विद्वान पं० बलज्जिनाथ ने इस विषय पर गवेषणापूर्ण प्रकाश डाला है। त्रिक्-दर्शन में पूर्ण अहंभाव, जिसकी अनुगूँज इकबाल में फलसफा खुदी के रूप में हुई और जिसने मध्य एशिया के अद्वैतवादी चिन्तकों को जोड़कर रख दिया था उस विचार की नशबो-नुमा की पालना भी त्रिगर्त भूमि की पुण्यस्थली जालन्धर पीठ ही रही है और उसका यह विचार '*खुदी को कर बुलंद इतना कि हर तकदीर से पहले खुदा बन्दे से खुद पूछे बता तेरी रज़ा क्या है*' जो किसी समय राष्ट्रीय मंच पर महत्त्वपूर्ण प्रेरक विचार था, यह यहीं कहीं आचार्य शम्भुनाथ के अनुभव में आया था।

जालन्धर पीठ के इतिहास के तन्तुओं को खोजने से पहले तेजोलिंगों को समझ लेना महत्त्वपूर्ण है। जो 'ज्योतिर्लिंग और 'तेजोलिंग' में अन्तर है। ज्योतिर्लिंग जहां सत्त्वघन विशुद्ध

पारमार्थिक संभूति है वहाँ तेजोलिंगों में रजस-तमस बहुत पारमार्थिक संभूति के वैशिष्ट्य के कारण इनकी तेजस-सक्रियता थी। रुद्र शक्त्यात्मक के गत्यात्मक अधिक प्रखर तथा आवेगपूर्ण त्वरा द्वारा साधना या लक्ष्य सिद्धि में सहायक होने वाली है। इसी बात को लक्ष्य कर जालन्धर-पीठ के माहात्म्य ग्रन्थों में यह बल देकर कहा गया था कि जो कार्य संसार में कहीं पर भी सिद्ध नहीं हो सकता वह जालन्धर पीठ के ऋषियों और श्रोत्रिय ब्राह्मणों की सेवा और प्रसन्नता से निस्सन्देह शीघ्र ही पूर्ण होता है। इसका मूल कारण रौद्री-शक्ति या रुद्राग्नि है।

रुद्राग्नि को संपूर्ण सृष्टि का बीज, संसार या विश्व ब्रह्माण्ड के रूपान्तर का हेतु माना गया है। यहीं पर शिव, महाकाल, काल और महाकाली बनकर संपूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना, संहार आदि उथल-पुथल का हेतु है। इसी की महत्ता को आंकते हुए ऋग्वेद में दो-तिहाई भाग रुद्राग्नि या अग्नि तत्त्व संबंधी ऋचाओं से भरा पड़ा है जो मुख्य रूप से ज्ञेय हैं पर उनसे संबंधित अन्य महत्त्वपूर्ण अग्नियों का संकेत शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थों शाखासूत्रों में किया गया है। विस्तार से यहाँ सबकी चर्चा करना अनुपयुक्त होगा, परन्तु संकर्म की गंभीरता को पकड़ने के लिये रुद्राग्नि के बारे कुछ जानकारी कर लेना अनिवार्य है।

'रुद्राग्नि' वेद-विज्ञान के सृष्टि-विधान की कुंजी है। 'अग्नि पुरोहितम्' में इसी 'अग्नितत्त्व' की वरेण्यता का उद्घोष किया गया है। 'अगि' धातु से निष्पन्न 'अग्नि' शब्द गत्यार्थक है किन्तु अपने विशिष्ट अर्थ में सर्ग के ब्रह्माण्डीय क्रिया-कलाप में रूपायित हो रहे विविध आयामी स्वरूपों की आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक परिणतियों का, उनकी प्रतीतियों का द्योतक है। इसलिये रुद्रतत्त्व साधारण आग्नेय गति का सूचक नहीं अपितु शक्तितत्त्व, दीप्तियुक्त ब्रह्म अथवा रुद्रतेज की अप्रतिम जाज्वल्यमान गति-विशेष का संकेत करता है जो अपनी गति, स्थिति, तेज और आलोक से लोक-लोकान्तरों या अनन्त भवनों को भास्कर चैतन्य सक्षम बनाता है। इसी से रुद्र-अग्नि रुद्रतेज की विविध आयामी अवस्थाओं के अनुशीलन की ऋचात्मक अवतारणा या श्रुतिबोध दशा है। ब्रह्मबीज है जो आकीट समस्त सृष्टि का विधायक तत्त्व है। जो सनातन काल से चला आ रहा है। देवासुर-संग्राम के पुरोधाओं ने इसी तेज से आकाश को भरते देखा था। इसे ही परमेश्वर की दिव्य संकल्प शक्ति, तप:शक्ति कहा गया है। इस तरह रुद्राग्नि या अग्नितत्त्व भागवत ओज-तेज-भ्राज स्वरूप समस्त क्रिया-कलाप स्वरूप संसार की समस्त अभिव्यंजना शक्तियों की मातृ स्वरूपा तप:शक्ति है। चिच्छक्ति है। यह शक्ति पिण्ड और ब्रह्माण्ड में प्रतिक्षण बिना काल बाधित रूपेण प्रतिक्षण प्रवाहित हो रही है। इसे ही अथर्वा ज्वाला कहा गया है जो बाहर और भीतर की साधना सरणियों का उन्मीलन कर संरचना करती है–

यज्ञैरथर्वा प्रथम: पथस्ते — *ऋग्वेद १.८३.५*

सायास प्रदीप्त रुद्रग्नि ऊर्ध्वशिरा होने पर स्थल और सूक्ष्म जगत में नाना प्रकार की सृष्टि करती है। द्युलोक में विद्युत स्वरूप देवताओं के रूप में, पर्जन्य रूप में जीवनैश्वयों की वर्षा के कारण 'वृषा' कही गई है। इसी रुद्राग्नि के तेज से त्रिगर्त प्रदेश के सम्राट् जालन्धर दैत्य का जन्म

हुआ माना गया है।

सम्राट् जालन्धर त्रिगर्त प्रदेश के बड़े पराक्रमी और तपस्वी सम्राट् थे। उनकी उत्पत्ति दैवीय मानी गई है। एक बार देवराज इन्द्र देव मण्डली सहित हिमाचल के वन-पर्वत और उपत्यकाओं में विचर रहे थे कि मार्ग में वेश बदल कर लेटे हुए व रास्ता रोके हुए भगवान् शंकर से उनका आमना-सामना हो गया। देवाधिदेव महादेव मार्ग में टांगें परसार कर आड़े-तिरछे लेटे हुए थे। देवराज इन्द्र उन्हें पहचानने में भूल कर बैठे। उन्होंने भोले बाबा को टांगें समेट कर रास्ता देने को कहा। पर जगत्पति शिव मौन रहे, टस से मस न हुए, बोले तक नहीं। तब क्रुद्ध इन्द्र ने ज्यों ही वज्र से उन पर प्रहार करना चाहा त्योंही देवताओं सहित वह जड़ होकर रह गए। इतने में देवगुरु बृहस्पति भी वहाँ आ पहुँचे। स्थिति को समझते उन्हें देर न लगी। वह समझ गए कि महादेव की उपेक्षा का यह फल है। उन्होंने श्रुति मधुर ऋचाओं द्वारा जगत-वंद्य परमेश्वर की भूरि-भूरि स्तुति की, इन्द्र को फटकारा तथा देवमण्डली सहित दण्डवत् प्रणाम करते हुए आशुतोष से क्षमा याचना करने लगे। भोले शंकर प्रसन्न हो गये। इन्द्रादि देवों को जड़ता से मुक्ति मिली, पर जिस तेज से वह विजड़ित हुए थे वह तेज शिवजी के तीसरे नेत्र से प्रस्फुटित हुआ था। उसे ही उन्होंने बृहस्पति आदि देवताओं के परामर्श पर समुद्र में फेंक दिया। उसी तेज से समुद्र की जलराशि में जालन्धर का जन्म हुआ। जल में पालित होने अथवा जल से धारण किए जाने के कारण वे जालन्धर कहलाए। शिवांग होने से परम तपस्वी के गुणों से युक्त हुए। कुछ ही वर्षों की घोर तपस्या के परिणामस्वरूप उन्होंने भगवती दुर्गा के नौ रूपों में से आठ रूपों को प्रसन्न कर संसिद्ध कर लिया था जो सदा उनके अंग-अंग रहते थे। उन्हीं की सहायता से उसने मृत्युलोक के राजाओं को जीतने के बाद देवताओं से भी दो-दो हाथ करने शुरू कर दिये। उसकी प्रचण्ड रौद्री शक्ति के आगे देवताओं के पैर उखड़ गए थे। वे भाग खड़े हुए और शरण के लिये मारे-मारे फिरने लगे, पर जालन्धर के भय से किसी ने उन्हें आश्रय नहीं दिया। तब लाचार वे ब्रह्मा को लेकर भगवान् शंकर की शरण में गए और उनसे जालन्धर के वध की प्रार्थना की।

भगवान् शंकर के बार-बार आक्रमण करने पर भी जब जालन्धर परास्त न हो सका, तब शंकर सहित सभी देवता भगवान् विष्णु की शरण में गए और उनसे सहायता मांगी। इस पर शंकर के समरारूढ़ होने पर जब जालन्धर दैत्य युद्ध में दत्तचित था तब भगवान् विष्णु ने जालन्धर की धर्मपत्नी के पास राजमहल में जालन्धर रूप में प्रवेश कर उसे आमोद-प्रमोद में उलझाए रखा। इससे उसका तपमय मनोबल जालन्धर को प्राप्त न हो सका। फलत: शिवजी ने उसे युद्धस्थल में मार गिराया। गिरते ही उसने धर्मपत्नी को स्मरण किया। तब उसे झटका लगा। वह समझ गई कि उससे छल हुआ है। उसने जालन्धर रूपधारी भगवान् विष्णु को शालिग्राम रूप में पत्थर हो जाने का श्राप दे दिया तब भगवान् ने उसे श्री-विग्रह सहित अपने चतुर्भुज रूप के दर्शन दिए तो वह फूट-फूट कर रोने लगी। वह अनन्या विष्णुभक्ता थी और अपनी भूल पर भगवान् से क्षमा याचना करने लगी कि मेरा श्राप निष्फल हो। परन्तु भगवान् ने उसे ढाढस बंधाते हुए श्यामा या वृन्दा तुलसी के रूप में

रूपायित होने का वरदान दिया तथा उसे शालिग्राम की सर्वोत्तम पूजा का हेतु बनाया और कहा कि श्यामा के पत्रों और मंजरियों से पूजित शालिग्राम ही भुक्ति-मुक्ति का कर्ता और पाप-संताप का हर्ता होगा।

इस प्रकार परस्पर अभिशप्त और वरदानित वृन्दा और भगवान् विष्णु युद्ध भूमि में वहाँ पधारे जहाँ घायल अवस्था में जालन्धर पृथ्वी पर पड़ा हुआ था। उसके सामने चतुर्भुज भगवान् विष्णु, कैलाशवासी अविनाशी शंकर तथा दुर्गाओं के नौरूपों में से आठ रूपधारी महादेवियाँ — (तारा, चामुण्डा, बगला, जयन्ती, वज्रेश्वरी, ज्वालामुखी, भद्रकाली और अंबिका) विद्यमान थीं। भगवान् विष्णु, शिवादि ने जालन्धर को वर मांगने के लिये कहा तथा आश्वासन दिया कि यदि वह चाहे तो उसका शरीर यथावत् हो सकता है, वह अपना राजपाट प्राप्त कर सुखपूर्वक रह सकता है, यदि वह देवताओं का विरोध छोड़कर जीवन याचना करे।

असुरराज जालन्धर ने भगवान् विष्णु आदि देवताओं के आश्वासन के प्रति आभार जताते हुए विनम्र प्रार्थना की कि इस प्रकार देवदुर्लभ गति बड़े दुर्लभ संयोग से किसी विरले को ही प्राप्त होती है जबकि कोई शरीर छोड़ रहा हो और भगवान् विष्णु, महादेव और देवी-देवता सम्मुख खड़े हों। अत: उसने उनके सामने ही प्राण त्यागने की इच्छा प्रकट की तथा वरदान रूप में यही याचना की कि भगवान् विष्णु मेरे इस देहपात-स्थल में प्रविष्ट होकर विचरण करें, शिव द्वादश तेजोलिंगों के रूप में इस पर विराजमान हों तथा देवी-देवता यहाँ किये यज्ञों द्वारा मनोरथ-सिद्धि करें। भगवान् विष्णु आदि ने जालन्धर को मनोरथ सिद्धि के वरदान दिए और जालन्धर ने अपना शरीर त्याग दिया। इस तरह वरदान के फलस्वरूप जालन्धर महापीठ का भूभाग देहत: विष्णु स्वरूप है, उस पर उदित द्वादश तेजोलिंगों के कारण रुद्रात्मक-आग्नेय है, देवियों की वरद लीलास्थली होने से यजनमयी है। इस प्रकार अग्निष्टोमात्मक भूमि होने के कारण निगमागम, वैदिक-तांत्रिक मंत्रों की सद्य-सिद्धि, पुष्टि-तुष्टि तथा अभ्युदय कारक यज्ञों की सफल परिणति की प्रशस्त भूमि होने से यह पुण्यभूमि अत्यन्त पवित्र दैवीय क्षेत्र है। इसका विस्तार घटा-टोप से लेकर पौंग बांध तक फैला हुआ है।

भगवान् शंकर से जालन्धर द्वारा यह वरदान मांगा गया कि आप अपनी द्वादश तेजोमयी कलाओं के साथ-साथ अब से लेकर (जालन्धर के मरने से) मेरी इस विष्णुमयी देह पर स्वयंभू लिगों के रूप में सुशोभित होकर विश्व मंगल करें जिसे जालन्धर को देवताओं द्वारा दिए आग्रहपूर्ण सुरक्षा आश्वासन के फलस्वरूप भगवान् शिव ने स्वीकार किया। सदा से सन्देहशील देवताओं को यह आशंका थी कि विष्णु के अमृतमय देह के प्रवेश के कारण कहीं जालन्धर दैत्य फिर न उठ खड़ा हो जाए और देवताओं का संहार करना शुरू कर दे। शिव के तेजोमय लिंगों के कारण देहस्थल सदा-सदा के लिये उत्कीलित का दिया गया जिससे वह उठ ही न सके। रुद्र शक्त्यात्मक होने से यह स्वयंभू लिंग तेजोलिंग कहे गये क्योंकि रौद्री शक्ति के आग्नेय और आधिदैविक सौरकला की ही प्रधानता इनकी विशिष्टता है। इसमें रजस-तमस गुण बहुलता को सोमकला से

समन्वित कर इन्हें अग्नि-सोमात्मक यज्ञरूप दिया गया है। इन तेजोलिंगों में हैं —

नंदिकेश्वर, त्र्यम्बकेश्वर, पल्लिकेश्वर, बैजनाथ, महाकाल, कंजेश्वर (कुंजद्वार), चौमुखा, कालेश्वर, कश्मयेश्वर, कुरवीरेश्वर, गंगेश्वर, त्रिलोकीनाथ। इनमें से कश्मयेवश्वर के साथ राजा श्रीकप, कुरवीरेश्वर के साथ कुरुवंश का संबंध जुड़ा हुआ है जो गवेषणा का गंभीर विषय है।

जालन्धर को वरदानित ज्वालाजी आदि देवियों के समस्त स्थान आज भी अभ्युदयमूलक मनोभीप्सित यज्ञों की पूर्ति के लिये सुप्रसिद्ध हैं। इनमें से ज्वालामुखी का स्थान कटोच वंशीय नरेश सुशर्मा के इतिहास से जुड़ा हुआ है जो कि संसार के इतिहास का सबसे पुराना राजघराना माना गया है। इतना ही नहीं, ज्वाला जी के ३६४ गुलाई मठों की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक भूमिका रही है। किसी समय उनके धर्म और संस्कृति के प्रचार-प्रसाद का क्षेत्र तिब्बत तक फैला हुआ था। इलाचीगिरि का डलहौजी से हुआ चमत्कारिक आमना-सामना भी जनमानस में आज भी अपनी छाप रखता है। जालन्धरनाथ का पच्चीस वर्ष तक ज्वालाजी में साधना करना इतिहासानुमोदित है। ये सारी बातें एक-एक करके पृथक रूप से छान-बीन की अपेक्षा रखती हैं।

संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'गोरक्षसंहिता' संस्करण १९७६ में स्पष्ट कहा गया है कि जालन्धर का प्रादुर्भाव त्रिगर्त-प्रदेशीय प्रसिद्ध जालन्धर पीठ में हुआ था। वह मन्त्र-तन्त्र सिद्ध थे। उन्होंने पच्चीस वर्ष तक ज्वालामुखी में साधना की थी जो कि जालन्धर पीठ के मुख्य साधना क्षेत्रों में से एक है। कहा गया है कि—

अयं जालन्धरनाथः पूर्णसिद्धः सिद्धिप्रदश्चेतिवेनतेनैव प्रतीयते यदेतस्य स्तोत्रं मन्त्रों यन्त्रं च जनैः पठ्यते जप्यते पूज्यते च। अयं च त्रिगर्तदेशीय सुप्रसिद्धे जालन्धरपीठे प्रादुर्बभूव, अतएव अस्य नाम जालन्धरनाथ इति जनैरुच्यते। गोरक्षसंहिता में इन्हें साक्षात् महाकाली का अजर-अमर पुत्र कहा गया है

सर्पकंचुकवद्देहं त्यक्त्वा त्यक्त्वा पुनर्युवा।
सा सदैव युवा तिष्ठेत सामयाविषयीकृतः।।

ऐसी मान्यता है कि अजर-अमर ये सिद्ध आज भी ज्वालामुखी के पंचकोशी क्षेत्र के उत्तर में साधनारत हैं—

जालन्धरो वसेन्नित्यमुत्तरापथमाश्रितः।
ज्वालामुखी पंचकोशवनमुत्रमाश्रितः।।

जालन्धरनाथ हठयोग प्रदीपिका में वर्णित जालन्धर बन्ध के आविष्कर्ता थे जिन्होंने नागार्जुन की तरह चिकित्साशास्त्र में ख्याति अर्जित की।

बौद्ध इतिहास में नागार्जुन को बौद्ध सिद्ध चिकित्सक व सिद्ध पुरुष माना गया है। वे दक्षिणात्य थे। उन्हें मंजुश्री का अवतार कहा गया है। मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र के साथ-साथ वे रसायन-विद्या और औषधशास्त्र वेदशास्त्र के पारंगत विद्वान और सिद्ध थे। नाथ सिद्ध परंपरा की सूचियों में

नागार्जुन सिद्ध को नाथ माना गया है। ज्वालामुखी में उनका प्रसिद्ध स्थान है और उसका महत्त्व इसी बात से है कि ज्वालामुखी के दर्शन तभी सफल हो सकते हैं जब पहले नागार्जुन के दर्शन कर लिये जाएँ। ज्वालाजी महाकाली का ही एक रूप है, पर यही लगता है कि ये सिद्ध देवी के ही उपासक हैं। इसी सन्दर्भ में यहाँ पर राजा श्रीकप का उल्लेख करना इसलिये आवश्यक है कि उससे त्रिगर्त इतिहास की एक और उपेक्षित कड़ी का महत्त्वपूर्ण सूत्र हाथ लगता है जिसकी विस्तृत छानबीन से इस दिशा में काफी प्रगति हो सकती है।

क्षत्रिय राजाओं की राजधानी पौंगबान्ध जलमग्न क्षेत्र सरकापड़ा के आसपास थी। उनका अधिकार क्षेत्र भी पर्याप्त विस्तृत था। स्यालकोट के शालिवाहन नरेशों की राज्य सीमाओं के साथ उनकी राज्य सीमाएँ थीं। पंजाब की लोकगाथाओं के सन्दर्भ से विदित होता है कि इस वंश के अंतिम राजा की हत्या धोखे से सरकापड़ा में की गई थी। नरद्याणा का कश्यपेश्वर महादेव का तेजोलिंग संभवत: उन्हीं के वंश का आराध्य देव था जोकि जालन्धर पीठ के द्वादश तेजोलिंगों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

त्रिगर्त के इतिहास का एक और उजागर पहलू है कुरुवीरेश्वर तेजोलिंग। यह भी अब पौंग बान्ध में जलमग्न है। जालन्धर पीठ पर के सन्दर्भों में ज्ञात होता है कि यह स्थान कुरुवंशीय राजाओं की एकान्त उपासना का स्थल रहा है। जो जनपद 'कतनौर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ वह कभी 'कुरुवीर पौर' या कुरुपौर रहा होगा और बाद में 'कतनौर' हो गया। राजा शान्तनु का कुरुवीर (अपने कुलदेव) की उपासना का उल्लेख जालन्धर पीठ विवरणिका संबंधी पाण्डुलिपियों में मिलता है तथा साथ ही कांगड़ा किले में उन्हें महाकाल भैरव के दर्शन द्वारा वरदान रूप में गंगा देवी की प्राप्ति का उल्लेख भी मिलता है। इससे जहां इस क्षेत्र की आध्यात्मिक पवित्रता और श्रेष्ठता का संकेत मिलता है वहाँ इसका राजघरानों में समाहत रहना भी सिद्ध होता है।

त्रिगर्त में पड़ने वाला जालन्धर पीठ का क्षेत्र ऐसा प्रचीन क्षेत्र है जो जल-प्लावन के पश्चात् भूमि के रूप में समुद्री जलराशि से बाहर आया था। इसका उल्लेख पद्मपुराण और लक्ष्मी नारायण संहिता में मिलता है कि जब जालन्धर दैत्य बड़ा हो गया तो गुरु शुक्राचार्य उसके पिता समुद्र के सामने प्रकट हुए और कहा कि हे समुद्र तुम्हारा पुत्र अपने भुज—विक्रम से त्रिलोकी के ऐश्वर्य को भोगने वाला होगा इसलिये तुम जम्बुद्वीप की पुण्य भूमि को उतनी सीमा तक छोड़ दो जिसमें तुम्हारा पुत्र सुखी होकर अपना साम्राज्य बसा सके। शुक्राचार्य के कहने से समुद्र ने ३०० योजन लम्बी-चौड़ी भूमि उगल दी जिस पर त्रिगर्त के अन्तर्गत ४८ कोस वाली जालन्धर पीठ की पुण्य भूमि शामिल है। इसी पुण्य भूमि पर जालन्धर दैत्य के वध के समय के पश्चात् भगवान् शिव द्वारा द्वादश तेजोलिंगों की स्थापना की गई है।

जालन्धरपीठ रुद्राग्नि की आग्नेय पीठ है, यह कहा जा चुका है। ब्रह्माग्नि के यों तो अनन्त रूप हैं। उन्हीं में से एक-एक के केन्द्र बिन्दु से उद्भूत उपादनों से परिवृत्त प्रकाशमय साकार मूर्तियां ही देवमण्डल की विविध ऐश्वर्यमयी सत्ताएँ हैं जिन्हें श्रुति में परस्य विभवं बहव: श्रूयते कहकर

इंगित किया गया है। जालन्धर पीठ के तेजोलिंगों और नव दुर्गाओं में से आठ दुर्गाओं में ब्रह्माग्नि और रुद्राग्नि किन-किन रूपों में प्रासंगिक होगा, यह विषय गंभीर और रहस्यात्मक है और काफी सीमा तक इसका खोलना निषिद्ध भी है। फिर भी संस्कृति के जिज्ञासुओं के लिये उनका थोड़ा सा ब्योरा इस प्रकार है।

रुद्राग्नि ब्रह्माग्नि का ऐसा अनामय तप्त रूप है जो आणविक मल को भस्मसात् करने में सर्वथा सक्षम है। यह प्रणव स्वरूप है। प्रणव का उच्चारण करते ही प्राण गमन करता है, गतिशील होता है। यह प्राण की गति को बांधता और समेटता भी है। प्राण ब्रह्माग्नि का सिसृक्षानुविद्ध आकुल प्रकाश प्रवाह है जो अस्तित्व-नास्ति का हेतु है।

कालेश्वर, महाकाल और चामुखा तेजोलिंगों में तेजोमयी चंडिका रुद्राग्नि स्थित है। त्र्यम्बकेश्वर में रुद्रमुखी अग्नि है। यह श्वेताभ-नीलघना अग्नि है। नंदिकेश्वर में उपहास अग्नि विद्यमान है। बैजनाथ में प्रलंबित अग्नि का प्रवाह है जबकि त्रिलोकीश्वर में बडवाग्नि का वर्चस्व है। कश्यपेश्वर में नीलवर्णा धूमकेती अग्नि प्रधान है, जबकि गंगेश्वर में पीतवर्णा 'ऋषि वर्तती' अग्नि की बहुलता है।

इसी प्रकार ज्वालामुखी में रुद्रमुखी, वज्रेश्वरी में भयभीत, चामुण्डा में विक्रम, जयन्ती और भद्रकाली में कपालाग्नि का सत्त प्रवाह सक्रिय है। ये अग्नियाँ समष्टि चेतना से सम्बद्ध होकर भी अपनी-अपनी अधिकार सीमा में कार्यरत रहती हैं। विवेकपूर्ण इनके ध्यान-उपासना और विधिवत पूजन से ये बहुत कुछ कर गुजरने में सक्षम हैं। संक्षेप में यही रहस्य त्रिगर्त के जालन्धर को युग-युग से वन्दनीय और सेवनीय बनाता आया है। इस धरती पर विचार-दर्शन और साधना के फूल खिले हैं। सदाचार की महक उठी है और संस्कृति का नन्दन-वन पोसा और सँवारा गया है। आज त्रिगर्त बहुत कुछ समय से मलबे के नीचे दबा सत्त प्रयत्नशील धैर्यधन कर्मठ इतिहासकर्मियों के विमर्शपूर्ण विश्लेषण द्वारा आत्मोद्धार की बाट देख रहा है कि वे आगे आकर इन स्मारकों को उभार और इनकी सतह पर जमी हुई काई को हटा कर राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना के इन अग्रगामी ऊर्जा स्रोतों को पुन: राष्ट्रहिताय संजोने-संवारने का प्रयास करें, युग की इतिहासभागीरथी को लाकर राष्ट्रीय सागरपुत्रों को विदेशी इतिहास के अभिशाप से मुक्त करें।

सेवानिवृत प्राचार्य
गांव व डा. दाड़ी
धर्मशाला (हिमाचल प्रदेश)

क्रान्तिवीर

मां भारती के वीर सपूत नाना साहब पेशवा

विनोद कुमार लखनपाल

सन् १८५७ में भारतवर्ष के जनसाधारण ने अपने प्राणप्रिय धर्म एवं स्वदेश को पूर्णरूपेण स्वतन्त्र एवं भयमुक्त करने के महान उद्देश्य से विधर्मी अंगरेजों के विरुद्ध प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम लड़ा था। इस स्वतन्त्रता संग्राम को न केवल अंगरेज इतिहासकार वरन् उनके दृष्टिकोण से ही उसे परखने वाले भारतीय चाटुकारों ने भी इसे 'ग़दर' अथवा 'सिपाही विद्रोह' का नाम दिया है। यह सत्य है कि प्रथम स्वाधीनता संग्राम अन्तिम मुगल बादशाह बहादुर शाह ज़फर के नाम से लड़ा जा रहा था। परन्तु यथार्थ में इसके वास्तविक एवं अग्रगण्य नेताओं में नाना साहब पेशवा, महारानी लक्ष्मी बाई, तांत्यटोपे और अज़ीमुल्ला खां थे।

वर्ष १८२४ में महाराष्ट्र के मथेरान के गगनचुम्बी शैल शिखरों के अंचल में बसे वेणु गांव के माधव नारायण भट्ट की साध्वी एवं धर्म परायण पत्नी गंगाबाई की कोख से जन्मे धुन्धु पन्त अभी मात्र ढाई वर्ष के थे कि पेशवा बाजीराव द्वितीय ने इन्हें गोद लेकर दत्तक पुत्र बना लिया। उल्लेखनीय है कि पेशवा बाजीराव द्वितीय ने जून १८१८ में अंगरेजों के साथ एक संधि की थी जिसके अनुसार आठ लाख रुपये वार्षिक पेन्शन के बदले अपना सारा राज्य और अधिकार ईस्ट इंडिया कम्पनी को सौंप कर स्वयं कानपुर के निकट ब्रह्मावर्त अर्थात् सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच के बिठूर नाम से प्रसिद्ध क्षेत्र में रहना स्वीकार किया था। १८५१ ईस्वी. में पेशवा बाजीराव की मृत्यु से पूर्व वह अपनी सम्पति और पेन्शन धुन्धु पन्त उर्फ नाना साहब पेशवा के नाम कर गए लेकिन ईस्ट इंडिया कम्पनी के शातिर अंगरेज शासन ने नाना को पेशवा की सम्पति और पेन्शन का वैध हकदार न मानते हुए आपको दत्तक पुत्र होने के नाते मिलने वाले सभी लाभों से वंचित कर दिया। यहां यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि बाजीराव पेशवा द्वितीय के साथ उस समय बिठूर में लगभग आठ हजार स्त्री-पुरुष और बच्चे निवास करते थे। जिनका पालन पोषण उसी पेन्शन से होता था। आर्थिक संकट की उस घड़ी में नाना साहब पेशवा ने अपने हक की लड़ाई के लिए एक विशेष दूत भेज कर कानपुर से उर्दू, फारसी, संस्कृत और हिन्दी के साथ अंगरेजी और फ्रेंच भाषा के ज्ञाता अजीमुल्ला खां को बुला कर अपना कूटनीतिक परामर्शक नियुक्त कर लिया। काफी समय तक पत्र व्यवहार करने के बाद भी जब पेन्शन सम्बन्धी समस्या जस की तस रही तो ईस्ट इंडिया कम्पनी के उच्चाधिकारियों से सीधी बात करने के लिए नाना साहब ने अजीमुल्ला खां को इंग्लैड भेजा। उन्हीं दिनों सतारा के राजा की ओर से दावा पेश करने के लिए उनका एक अत्यन्त प्रतिभावान प्रतिनिधि रंगोजी बापू भी लंदन में थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा न्यायोचित मांग ठुकरा

दिए जाने के बाद अजीमुल्ला खां और रंगोजी बापू ने स्वाधीनता संग्राम हेतु क्या रणनीति बनाई इसका विवरण इतिहास में भले ही उपलब्ध न हो परन्तु यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि इस प्रचण्ड ज्वाला को धधकाने की रूपरेखा इन दोनों ही ने बनाई थी। रंगोजी बापू तो सीधे भारत लौटे जबकि अजीमुल्ला खां पैरिस होते हुए रूस पहुंचे जहां सम्राट ज़ार ने अंगरेजों के साथ युद्ध छिड़ने की स्थिति में रूसी सेनाओं को सीमा पर भेजने का आश्वासन दिया। वापसी में तुर्की, मिस्र, काबुल, लाहौर और दिल्ली होते हुए आप बिठूर लौटे।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के निर्णय को जानकर नाना साहब पेशवा के माथे पर कोई शिक़न न आई। अलबता यह अवश्य हुआ कि नाना साहब ने अपने अंतरंग साथिओं एवं समविचारकों के साथ गुप्त मंत्रणायें करने तथा क्रान्ति की योजना बारे सारे भारत में अंगरेजों के विरुद्ध अपने विशेष दूतों के माध्यम से सन्देश भेजना आरम्भ कर दिया और एक दिन उचित एवं उपयुक्त अवसर भांप सम्पूर्ण योजना को अन्तिम रूप देने के उद्देश्य से अपने विश्वस्त एवं कानूनी सलाहकार अजीमुल्ला खां के साथ तीर्थयात्रा के बहाने दिल्ली में बहादुर शाह ज़फर को मिलने के बाद बरास्ता अम्बाला लखनऊ होते हुए कालपी पहुंचे जहां बिहार के विद्रोही नेता कुंवर सिंह से भेंट करने के पश्चात् अप्रैल मास में बिठूर लौट आए। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि अपनी इस यात्रा के दौरान आपने जम्मू के महाराजा गुलाब सिंह के माध्यम से रूस के बादशाह को भी सन्देश प्रेषित किया था।

सर जॉन विलियम के, सर विलियम म्यूर और जी.डब्लयू फारेस्ट सरीखे प्रतिष्ठित ब्रिटिश लेखकों ने अपनी रचनाओं में नाना साहब पेशवा के कुछेक दस्तावेजों को उनके एलान के रूप में प्रकाशित किया है जबकि वास्तव में वह एलान न होकर कानपुर के होला सिंह कोतवाल, अवध के कालका प्रसाद कानूनगो और सिरसौल के थानेदार जो कि उनके परिचर थे, को भेजे गए कागज़ात हैं। पर एक प्रलेख जो शाही फर्मान की तरह का है, में नाना साहब को 'राष्ट्र धर्म रक्षक' के रुप में दर्शाते हुए आलीशान बन्दगीन आलीहुज़ूर बादशाह सलामत दिल्ली के 'पन्त प्रधान पेशवा' की हैसियत से जारी किया गया है। उल्लिखित दस्तावेज जो कि नीचे दिया जा रहा है जून १८५८ में बाबा साहब नारगुॅडाकर की पराजय और पलायन के पश्चात नारगुंडा से मिले कागजों में पाया जाता था—

नाना साहब पेशवा का एलान

''ईश्वर ने मुझे काफिरों को मारने और देश की सुरक्षा का कार्य सौंपा है।''

पन्त प्रधान धुन्धु पन्त नाना साहब पेशवा की ओर से सरज़ामदारों, जगीरदारों, देशमुखों, देशपांडयों व अन्य ज़मीदारों, पटेलों, कुलकर्णियों, नायक बाड़ों सेठ संडियों और दक्खिन एवं कर्नाटक की समस्त जनता के लिए यह एलान जारी करने की आज्ञा दी जाती है कि— अंगरेज जो कि इस देश में व्यापार करने के बहाने आए थे 'काफिर' हैं। उन्होंने हमारे सरजामदारों को शासक और शासन के विरुद्ध भड़काया तथा बेईमानी और धोखेबाजी से हिन्दुओं व मुसलमानों

के राज्यों को अपने कब्जे में करके देश में मौजमस्ती करने के उद्देश्य से कुछेक पूर्व राजाओं के वंशजों को बन्दी बना लिया व दूसरों को भीख मांगने के लिए विवश कर दिया है। यह सच्चाई आप सबको भलीभान्ति मालूम है। सत्ता को प्राप्त करने से मिली शक्ति के बल पर 'काफिर' घमण्डी और अक्खड़ हो गए हैं। न्यायप्रियता की आड़ में अनुचित ढंग एवं अन्याय से जनसाधारण का जीवन बर्बाद कर धन सम्पत्ति जमा कर ली है। वे इस देश की जनता को बहका कर उसका धर्म व जाति का परित्याग करवाने के प्रयासों में स्वंय को असफल देख ज़ोर ज़बरदस्ती करने की मंशा भी रखते हैं। मुझे ईश्वर की ओर से 'काफिर' अंगरेज जिसने निष्ठावान और पाप कर्म से डरने वाले जनसाधारण को अपनी तानाशाही चालबाजी और जुल्मों -सितम से हैरान परेशान किया है, का नाश करके दण्ड देने तथा हिन्दू और मुसलमान राज्यों को पहले की तरह दुबारा कायम करने व देश की सुरक्षा का गुरुतर कार्य सौंपा गया है। मैंने नर्बदा नदी के उत्तर स्थित देश जीत लिया है। चालबाज़ और धोखेबाज 'काफिरों' की अधीनता स्वीकार कर जीवन जीना लज्जाजनक है। इसलिए इस घोषणा को पढ़ते ही आप सब दिलेरी से अपनी तलवारें उठाओ और बिना किसी रहमोकरम के 'काफिरों' को मार डालो। इससे न केवल आपको पुण्यलाभ होगा, बल्कि बहादुरी दिखाने के साथ -साथ आपका हौंसला भी साबित हो जाएगा। मेरे बहादुरों! 'काफिर' 'अंगरेजों' द्वारा तुम्हारे बाप दादाओं और राजाओं पर ढाए गए जुल्मोसितम का बदला लेने का यही मुनासिब वक्त है। इस किस्म के सुनहरी मौका को गंवा कर अपने पर नामर्द होने का दाग लगवाने की बेवकूफी हर्गिज न करें। वर्तमान समय में अंगरेज अपने महजब आपसी तालमेल न होने के सबब न केवल आपस में लड़-झगड़ रहे हैं बल्कि एक -दूसरे को जान से भी मार रहे हैं। फ्रांसिसी और रूसी, जिन्होंने लम्बे अरसे से अंगरेजों के लिए नफरत पाल रखी है, एक सोची समझी साजिश के तहत अंगरेजों को हिन्दुस्तान से बाहिर निकालने के लिए इस मौका को मुताबिक जान कर पिछले तीन महीने से समंदर के रास्ते अपनी फौज भेज रहे हैं। चीनियों ने भी इन काफिरों के खिलाफ जंग का एलान कर दिया है जिसने इनके लिए काफी मुश्किलें पैदा कर दी हैं क्योंकि उनसे लड़ाई के लिए इनके पास भेजने की फौज नहीं है। उस पर तुर्रा यह कि इस बीच पारसी, अफगानी, और बलोची भी अपनी फौजों के साथ हमारी मदद को तैयार हैं। मुख्तसर में बात यह है कि अंगरेजों को इस देश से पूरी तरह निकाल बाहर करने का सुनहरी मौका है। 'काफिर' अंगरेज आपको गुमराह और पस्त हिम्मत करने के लिए झुठी बेबुनियाद खबरों को फैला रहा है कि उसने हमें हरा कर दिल्ली व दूसरी जगहों को दोबारा हमसे जीत लिया है। लेकिन आप इन अफवाहों पर कतई यकीन न करें। अगर इस सुनहरी मौका को आपने अपने हाथ से निकल जाने दिया तो आप हमारी ओर से सजा के हकदार होंगे और आपकी जागीर जमीन तथा रोटी कमाने का जो भी जरिया आपके पास होगा की कुर्की कर ली जाएगी। इस एलान को आलीशान बंदगीन आलीहुजूर बादशाह सलामत दिल्ली के हुक्म से राव पन्त प्रधान पेशवा द्वारा जारी किया गया है।

योजना के अनुसार प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम का बिगुल ३१ मई को फूंका जाना था। परन्तु विधना तो कुछ और ही ठाने बैठी थी। ८ अप्रैल को स्वनाम धन्य मंगल पांडे को फांसी देने के बाद जब अंगरेजों को पता चला कि ११ और ३५ नम्बर की देशी पलटनें विद्रोह हेतु गुप्त मंत्रणा कर रही हैं तो इन दोनों पलटनों के सैनिकों से हथियार रखवा कर बरखास्त कर दिया और ३४ नम्बर की पलटन के सूबेदार को फांसी पर चढ़ा दिया। १६ मई १८५७ को मेरठ छावनी के ९० हिन्दुस्तानी सवारों की एक कम्पनी को प्रयोग हेतु चरबी लगे नए कारतूस दिए गए। ८५ सवारों ने कारतूस को दांत से काटने से इन्कार कर दिया परिणाम स्वरूप इन सब का कोर्ट- मार्शल करने के बाद दस-दस साल की सजा के अतिरिक्त परेड-मैदान में खड़े खड़े ही हाथों में हथकड़ियां और पांवों में बेड़ियां डाल दी गई। यह घटना सुबह की थी शाम को घूमने के इरादे से मेरठ नगर में गए हिन्दुस्तानी सैनिकों को जगह-जगह पर स्त्रियों ने जी भर कर कोसा और डट कर लानत-मलामत की। और फिर वह सब कुछ जो ३१ मई के लिए निश्चित था, उत्तेजना और भावनाओं में बह कर ज्वालामुखी के समान फूट पड़ा। देशवासिओं और धर्म के लिए कुछ भी कर गुजरने का जज्वा किसी सूरत कम न था। लेकिन दुर्भाग्यवश परिस्थितियां एवं समय अनुकूल न था।

कई स्थानों पर प्रारम्भिक जीत के बावजूद स्वतन्त्रता संग्राम में जूझ रहे सैनिकों व जनसाधारण की शक्ति और धैर्य शनैः -शनैः क्षीण हो रहा था। ऐसी ही परिस्थितियों में नाना साहब पेशवा की शक्ति भी घट रही थी। इसी कारण आपको बिठूर छोड़ना पड़ा। एक वर्ष से भी अधिक समय तक आप अंगरेजों से लड़ते हुए नए-नए मोर्चे बनाते और अंगरेजों से लड़ते हुए पीछे हटते रहे। अन्ततः वह नेपाल के जंगलों में चले गए। तत्पश्चात् आप कहां गए और आपका क्या हुआ, यह आज दिन तक कोई नहीं जान सका। नाना साहब पेशवा के सम्बन्ध में तरह तरह की आख्यायिकाएं प्रसिद्ध हैं। अंगरेज आपको किस हद तक अपना कट्टर शत्रु मानते थे, पाठक इसी बात से अनुमान लगा सकते हैं कि आपके धोखे में आठ-दस व्यक्तियों पर मुकदमा चला कर या तो फांसी पर लटका दिया गया या तोप से बांध कर उड़ा दिया। इतने लोगों को नाना साहब के धोखे में फांसी चढ़ा देने के बाद भी अंगरेज़ नाना साहब की खोज करते ही रहे। वर्ष १८७४ में ग्वालियर में दुर्गा पूजा के मेले में एक अफवाह फैली कि वैरागी के वेश में नाना साहब मेले में पधारे। नाना साहब के एक पत्र के माध्यम से महाराज जयाजी राव शिन्दे ने पुष्टि की कि वैरागी ही नाना साहब हैं। नाना की बहिन कुसुमावती उर्फ बयाबाई के ससुर बाबा साहब आपटे और नाना के भतीजे अण्णाभट्ट के अतिरिक्त नाना साहब के परिचित कर्नल थामसन, डा. बर्नार्ड और डा. ट्रेडिसर की गवाहियां भी हुई। नाना साहब के माथे पर एक निशान था, वैरागी के वैसा ही चिन्ह था पर कर्नल थामसन को वैरागी के नाना होने की बात नहीं जंची। यद्यपि उसके कहने पर वैरागी की दाढ़ी मूंछ साफ कर दी गई तो भी डा. थामसन और डा. बर्नार्ड निश्चित रूप से कुछ न कह सके। डा. ट्रेडिसर ने बिठूर में नाना की शल्य चिकित्सा की थी पर वैरागी शरीर पर ऐसा कोई चिन्ह न था। फिर भी वैरागी को फांसी दे दी गई। क्रान्ति के संघर्ष के दौरान ३० दिसम्बर, १८५८ को नाना साहब के

नेतृत्व में नेपाल की सीमा में राप्ती नदी के तट पर अन्तिम लड़ाई लड़ी गई। उसके पश्चात् नाना का क्या हुआ जितने मुंह उतनी बातें। किसी ने कहा वह चीन चले गए तो किसी का कहना था कि वह तिब्बत चले गए। जबकि कुछ की राय में वह डाकुओं के साथ गए तथा बाद में उनकी मृत्यु किसी डाकू की गोद में हुई। सुप्रसिद्ध इतिहासाचार्य राजवाड़े ने नाना साहब की बहिन कुसमावती, उर्फ ब्याबाई आपटे जो यथार्थता बाजीराव पेशवा की पुत्री थी और जिनकी मृत्यु वर्ष १९१७ में हुई थी, से मिलकर नाना साहब की मृत्यु की जटिल पहेली सुलझाने को प्रयत्न किसा था। कुसमावती ने जो कहा, वह इस प्रकार था–''जब नाना साहब नेपाल गए तो वहां उनको आश्रय देने के लिए कोई तैयार न हुआ। इसी भागदौड़ में उन्हें विषम ज्वर हुआ और वे बेहोश हो गए। ऐसी स्थिति में हमारे साथिओं ने हम स्त्रियों को पास के गांव में भेज दिया जबकि नाना साहब को देनखोरी गांव के पास के जंगल झरने तक पहुंचने के लिए पांच-छह सवारों के साथ भेजा। वहीं नाना साहब की मृत्यु हुई। वहां उपस्थित साथिओं ने यथाविधि उनके शव का दाह संस्कार किया। बाद में उनकी अस्थियां लेकर वे सब हमारे पास आए, मेरे सामने ही नाना साहब का क्रिया कर्म हुआ। उस समय मैं बारह वर्ष की थी। नाना साहब के एक प्रमुख साथी ज्वाला प्रसाद के कथन से कुसमावती आपटे के कथन की पुष्टि होती है। लार्ड राबर्टस एक पत्र में लिखते हैं '' वर्ष १८६० में ज्वाला प्रसाद पकड़ा गया और उसे मेरी ही देखरेख में फांसी दी गई थी। फांसी के पूर्व जेल में उससे नाना साहब के बारे में जब बातचीत हुई तो उसने बताया ' मेरे पकड़े जाने के कुछ दिन पूर्व अक्तूबर, १८६० में जंगल के कष्टों से बीमार नाना साहब मर गए। मैं मृत्यु के समय उपस्थित न था पर दाह संस्कार मेरी आंखों के सामने हुआ था।''

१५० वर्ष के अधिक समय बीत जाने के बाद आज भी इतिहासकार मां भारती के वीर सपूत नाना साहब पेशवा की मृत्यु कब और कहां हुई के सम्बन्ध में एकमत नहीं है।

सन्दर्भ ग्रन्थः–

1. An Advanced History of India- R.C. Majumdar
2. Source Material for & History Of the Freedom Movements in India.(Vol.1, 1818-1885). Bombay
3. 1857 की चिनगारियां –श्रीनिवास बालाजी हर्डिकर।

लखनपाल विला,
ऊना हाउसिंग कोपरेटिव कॉलोनी,
रक्कड़, ऊना १७४३०३

सृष्टि आख्यान

गुरु ग्रन्थ साहिब में वर्णित सृष्टि रचना

प्रो. गणेशदत्त भारद्वाज

गुरु ग्रन्थ साहिब सिख गुरुओं, भक्तों और भट्टों की वाणियों का पवित्र ऐतिहासिक संग्रह है। इस ग्रन्थ में ३३८४ शब्द हैं और उसमें १५५७५ बन्द (वर्ण) हैं। इनके ५वें महला में पञ्चम गुरु अर्जुन देव जी के ६२०४ बन्द हैं। आदि गुरु नानक देव जी के प्रथम महला में २९४९ पद हैं। तृतीय महला में गुरु अमर दास जी के २५२२ पद हैं। महला चतुर्थ में गुरु रामदास जी के १७३० पद हैं। नव महला में नवम गुरु तेग बहादुर के १९६ बन्द हैं और ५७ बन्द गुरु अंगद देव द्वारा रचे गये महला द्वितीय में हैं। अवशिष्ट पदों में कबीर के पद सबसे अधिक और मरदाना के सबसे कम पद हैं।

इस कालजयी रचना संग्रह में आदि गुरु नानकदेव जी ने तात्कालिक धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का विस्तार से चित्रण किया है। उन्होंने जहाँ एक ओर '*कलिकाती राजै कसाई*' कह कर सामाजिक विषमताओं को उजागर किया है तथा खुरासान खसमाना किया, *एती मार पई करलाणै तैं की दरदु न आइआ,* कहकर बाबर के नृशंस आक्रमणों के लिए परमात्मा को उलाहना दिया है। वहीं दूसरी ओर गुरुनानक देव जी ने ब्रह्म चिन्तन, नामस्मरण तथा सृष्टिरचना जैसे दार्शनिक विषयों पर गम्भीर चिन्तन किया है।

सृष्टि रचना की चर्चा करते हुए गुरु नानक देव जी ने पदार्थों के सृष्टि पूर्व की स्थिति पर भी विशेष प्रकाश डाला है। उन्हीं के शब्दों में – ***जब सृष्टि का नामो निशान भी न था। .... अगणित युगों पर्यन्त महान् अन्धकार था। न तो पृथ्वी थी और न आकाश था। प्रभु का अपार हुक्म मात्र था। न दिन था, न रात थी। न तो चन्द्रता था, न सूर्य। केवल शून्य मात्र था।.... वेद पुराण कुछ भी न थे। सूर्योदय और सूर्योस्त भी न थे। वह अगोचर वह अलख, स्वयं अपने को प्रदर्शित कर रहा था।***[१]

यहाँ गुरुनानक देव जी की उपर्युक्त विचारवली एवं ऋग्वेद के नासदीय सूक्त की विचारधारा में असाधारण साम्य दिखायी देता है।

नासदीय सूक्त में सृष्टि रचना की पूर्वावस्था का वर्णन इस प्रकार किया गया है, 'तब अर्थात् मूलारम्भ में असत नहीं था और सत भी नहीं था। अन्तरिक्ष नहीं था और उसके परे आकाश भी नहीं था। ऐसी अवस्था में किसने (किसपर) आवरण डाला? कहाँ? और किसके सुख के लिए?[२]

तब मृत्यु अर्थात् मृत्युग्रस्त नाशवान् दृश्य सृष्टि भी न थी। अतएव दूसरा अमृत अर्थात् अविनाशी नित्य पदार्थ (यह भेद भी) न था। इसी प्रकार रात्रि और दिन का भेद समझने के लिए कोई दूसरा स्रोत न था। जो कुछ था, वह अकेला एक ही था। अपनी शक्ति (स्वधा) से वह वायु के बिना

श्वासोच्छवास लेता रहा अर्थात् स्फूर्तिमान् होता रहा। इसके अतिरिक्त या परे कुछ भी न था।[3]

मनुस्मृति में सृष्टि-प्रारम्भ का वर्णन इस प्रकार किया गया है —

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः।।[4]

अर्थात् सबसे पहले सब कुछ अन्धकार (तम) से व्याप्त था। भेदाभेद नहीं जाना जाता था, सब अगम्य और निद्रित सा था। फिर आगे अव्यक्त परमेश्वर ने पहले पानी उत्पन्न किया।

गुरु नानक देव जी ने अत्यन्त दृढ़ता पूर्वक इस बात का प्रतिपादन किया है कि सृष्टि के मूलारम्भ में कोई भेद नहीं था। जो कुछ भी था, वह सारे पदार्थों से विलक्षण था। वह अकेला अपने आप में प्रतिष्ठित था। वह निरंकार ब्रह्म निर्लिप्त भाव से बैठा था। इस समय किसी भी दृश्यमान् सृष्टि का विस्तार नहीं था—

केते जुग बरते गुवारै। ताड़ी लाई अपर अपारै।
धुंधकारि निरालयु बैठा ना तदि धंधु पसारे है।।[5]

इस प्रकार उपर्युक्त पद में सारी सृष्टि में मूलारम्भ का तत्त्व उसी को माना है, जो अपरम्पार है और अपनी ताड़ी (ध्यान) में स्वयं अपने आप स्थित है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार — ***स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः***[6] अर्थात् अपनी महिमा से अन्य किसी की अपेक्षा न करते हुए अपने आप में प्रतिष्ठित है।

सृष्टि-रचना से पूर्व 'शून्य तत्त्व' का प्राधान्य —

गुरुओं ने इस तत्त्व को कहीं-कहीं शून्य की संज्ञा दी है। इसी शून्य को समस्त सृष्टि का मूल कारण माना है—

सुंन कला अपरंपरि धारी। आपि निरालमु अपर अपारी।।
आपे कुदरति करि करि देखे सुंनहु सुंनु उपाइदा।। १
अगनि पाणी जीउ जोति तुमारी सुंने कला रहा इदा।। २
सुंनहु ब्रह्मा बिसनु महेषु उपाए।......
सुंनहु चंदु सूरजु गैणारै। तिसकी जोति त्रिभुवण सारे।। ५
सुंने अलख अपार निरालमु सुंने ताड़ी लाइदा।।
सुंनहु धरति अकासु उपाए।......
त्रिभवण साजि मेखुली माइआ आपि उपाइ खपाइदा।। ६
सुंनहु खाणी सुंनहु वाणी। सुंनहु उपजी संनि समाणी।। ७

(श्री गु.ग्र.सा., मारू, सोलहे, प्रथम महला)

अर्थात् — अपरम्पार परमात्मा अपनी शून्यकला में स्थित है फिर भी वह स्वयं निर्लिप्त है। शून्य से ही सारी सृष्टि उत्पन्न करके वह देखता रहता है। वायु और जल की रचना उसने शून्य से की है। अग्नि, जल, जीव आदि तुम्हारी (परमात्मा की) ज्योति है। सृष्टि उत्पत्ति के मूलारम्भ में भी

परमात्मा इसी शून्य में विराजमान था। इसी शून्य से ब्रह्मा, विष्णु, महेश त्रिदेवों की उत्पत्ति हुई।...... शून्य से ही चन्द्रमा, सूर्य, आकाशादि की उत्पत्ति हुई।.... अलक्ष्य अपार, निरालमु (निराधार परमात्मा) शून्य में ताड़ी लगा कर स्थित है। इसी शून्य से पृथ्वी और आकाश की उत्पत्ति हुई है।....

त्रिभुवन की उत्पत्ति भी इसी शून्य से हुई है। माया की रस्सी इसी शून्य से हुई है और इसी शून्य में विलीन हो जाती है। शून्य से ही चारों खानियाँ (अण्डज, जरायुज, स्वदेज और उद्भिज) की उत्पत्ति हुई। इसी से सारी वाणियाँ अर्थात् शास्त्रों की उत्पत्ति हुई। संक्षेप में सारी दृश्यमान सृष्टि इसी शून्य से उत्पन्न होती है और इस शून्य में विलीन हो जाती है।

यहाँ शून्य शब्द का अर्थ 'कुछ नहीं' अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, बल्कि यहाँ शून्यावस्था का तात्पर्य उस स्थिति से है, जब संसार की उत्पत्ति से पूर्व सारी शक्तियाँ एक मात्र परमात्मा में केन्द्रीभूत थीं, जब न रूप था, न रेखा थी और न जाति थी।[७]

सृष्टि का मूलारम्भ तत्त्व — ओंकार

सृष्टि के मूलारम्भ के इस परमतत्त्व को गुरु अर्जुन देव ने 'ओंकार' कहा है। उनका कथन है कि उसी ओं 'ओंकारि' से सारी सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। दिन और रात का इसी से निर्माण हुआ है। वन, तृण, त्रिभुवन, जल, सारे लोगों की उत्पत्ति इसी 'ओं' ओंकारि से हुई —

ओं अंकारि उतपाति। कीआ दिवसु सभ राती।
वणु तृणु त्रिभवण पाणी। चारि वेद चोर खाणी।।
खंड दीप सभ लोआ।।[८]

इस प्रकार गुरुओं के मतानुसार सृष्टि की एक अनारम्भ अवस्था थी और उसी से फिर सृष्टि का प्रारम्भ हुआ। परमात्मा ही निर्गुण स्वरूप से सगुण स्वरूप धारण कर सृष्टि रचता है और उसमें अलिप्त होकर कार्य करता और कराता है।

जुग छतीअ कओ गुबारा।...
ओअंकारि सभ सृसटि उपाई।।
सभु खेल तमासा तेरी वडिआई।....[९]

अर्थात् छत्तीस युगों तक अन्धकार (शून्यावस्था) था। फिर (निर्गुण परमात्मा ने सगुण रूप धारण कर) ओंकार से सारी सृष्टि की उत्पत्ति की। संसार के सारे खेल और तमाशे उसकी सत्ता के प्रतीक हैं।

सृष्टि रचना के बारे में सांख्य, वेदान्त और गुरु ग्रन्थ साहिब में वर्णित सिद्धान्त —

सांख्यमत के अनुसार सृष्टि रचना के सभी पदार्थों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है— प्रथम अव्यक्त (प्रकृति मूल), द्वितीय व्यक्त (प्रकृति का विकार) और तृतीय पुरुष (ज्ञ)। प्रलय काल के समय व्यक्त पदार्थों का स्वरूप नष्ट हो जाता है। अत: मूल में केवल पुरुष और प्रकृति दो तत्त्व शेष रह जाते हैं। इन्हीं दो तत्त्वों को अनादि और स्वयम्भू माना जाता है। अतएव इन्हीं दो तत्त्वों के कारण ही सांख्यवादियों को द्वैतवादी कहा जाता है।

किन्तु शेष दर्शनों का मत इनसे भिन्न है। जैसे वेदान्त और श्रीमद्भगवद्गीता का सृष्टि रचना

के बारे में स्पष्ट मत है कि प्रकृति और पुरुष से भी परे एक सर्वव्यापक, अव्यक्त और अमृत तत्त्व है, जो चराचर सृष्टि का मूल है।

सृष्टि रचना के सन्दर्भ में ठीक यही सिद्धान्त गुरुग्रन्थ साहिब में वर्णित है। सिक्ख गुरु परमात्मा को ही सृष्टि का कारणस्वरूप मानते हैं। वे परमेश्वर को ही सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण मानते हैं। ***आपीन्हें आपु साजीओ आपीन्हें रचिओ नाऊ।।***[१०] तीसरे गुरु अमरदास ने भी ऐसे ही भाव व्यक्त किये हैं — आप ही सृष्टि का कारण और कर्त्ता है। वही सृष्टि की रचना करता है और सृष्टि उत्पन्न कर उसे देखता रहता है। इस प्रकार एक परमात्मा ही सबमें रमण करता है। किन्तु वह स्पष्ट रूप से दिखायी नहीं पड़ता —

आपे कारण करता करे सृसटि देखे आपि उपाई।
सब एको इकु बरतदा, अलखु न लखिआ जाई।।[११] *१.२७.६०*

अनेक स्थानों पर कहा गया है कि परमात्मा स्वयं ही सृष्टि रूप में विद्यमान है।

आपे अंडज जेरज सेतज उतभुज आपे खंड आपे सभ लोइ।।[१२]

अर्थात् परमात्मा आप ही अंडज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज बना हुआ है तथा आप ही उसने सृष्टि के खण्ड अर्थात् विभिन्न लोकों की रचना की है।

गुरु अर्जुन देव यावत् दृश्यमान सृष्टि को परमात्मा का ही स्वरूप मानते हैं —

तूं पेडु साख तेरी फूली। तूं सुखमु होआ असथूली।
तूं जलनिधि तूं फेनु बुदबुदा तुधु बिनु अवरु न भालीऐ जीउ।
तूं सुतु मणीए भी तूं है। तूं गंठी मेरु सिरी तूं है।
आदि मधि अति प्रभु सोई, अवरु न कोई दिखालीऐ जीउ।।[१३] *२.२१.२८*

अर्थात् हे परमात्मा तू वृक्ष है और तेरी शाखाएँ (सृष्टि) तुम में ही विकसित हैं। तू ही सूक्ष्म है और तू ही (सूक्ष्म से) स्थूल रूप धारण किये हुए है। तू ही समुद्र है। तू ही उसका फेन और बुलबुला है। तू ही सूत है और तू ही माला के मनके हैं। तू ही माला की गांठ है और तू ही सुमेरु है। आदि, मध्य और अन्त में तू ही व्याप्त हो रहा है। तुम्हारे अतिरिक्त कोई दूसरा दिखायी नहीं पड़ता।

परमात्मा के हुक्म से सृष्टि की उत्पत्ति

सिक्ख गुरुओं का यह सिद्धान्त है कि संसार की उत्पत्ति परमात्मा के 'हुक्म' से होती है। हुक्म का अर्थ शेरसिंह ने 'ईश्वरीय इच्छा' (Divine will) माना है।[१४] किन्तु मोहन सिंह हुक्म का अर्थ सृष्टि विधान (universal order) मानते हैं।[१५] व्याख्या की दृष्टि से, सृष्टि विधान का अर्थ अधिक युक्तिसंगत और समीचीन प्रतीत होता है। गुरुनानक देव जपुजी में 'हुक्म' को सृष्टि का मूल कारण मानते हैं —

हुकमी होवनि आकार हुकमु न कहिआ जाई।
हुकमी होवनि जीउ हुकमि मिलै वडिआई।
हुकमी उतमु नीचु हुकमि लिखि दुख सुख पाई आहि।
इकना हुकमी वखसीस इकि हुकमी सदा भवाईअहि।।

हुकमे अंदरि सभु को बाहरि हुकम न कोई।।[१६] *पउड़ी २*

अर्थात् सारे आकार, सारे मूर्त स्वरूप (रूप और नाम) उस एक (परमात्मा) के 'हुक्म' से होते हैं। उसके 'हुक्म' से ही सारे जीव अस्तित्व में दिखायी पड़ते हैं। 'हुक्म' से उन्हें बड़ाई प्राप्त होती है। 'हुक्म' से जीव ऊँच नीच कर्म करते हैं और विचारों में प्रवृत्त हो जाते हैं। 'हुक्म' से ही इन्हें सुख और दु:ख की प्राप्ति होती है। कुछ तो उसके हुक्म से बख्शे जाते हैं और कुछ उसके 'हुक्म' से जन्म-मरण के चक्कर में भ्रमित किये जाते हैं अर्थात् कालचक्र में घुमाये जाते हैं। इस प्रकार सारी सृष्टि परमात्मा के 'हुक्म' के अन्तर्गत है। परमाणु से लेकर ब्रह्मा, विष्णु, शिवपर्यन्त गुणों से लेकर गुणों का कारण (माया) तक कोई उसके हुक्म से बाहर नहीं है।[१७]

गुरु अर्जुन देव ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं–

हुकमे धारि ऊधर रहावै।

हुकमे उपजे हुकमि समावै।।[१८] *१.११*

अर्थात् समस्त सृष्टि परमात्मा के 'हुक्म' से उत्पन्न होती है और उसी के 'हुक्म' से विलीन हो जाती है।

गुरु नानक देव ने 'हुक्म' की महत्ता का मारु राग में विशद चित्रण किया है– परमात्मा के हुक्म से ही (जीवों की) उत्पत्ति होती है और उसी के 'हुक्म' से फिर से वे जीव उसी में विलीन हो जाते हैं।....... 'हुक्म' से ही दशावतारों की सृष्टि होती है।..... 'हुक्म' से ही परमात्मा ने छत्तीस युगों पर्यन्त शून्य समाधि अवस्था में काल व्यतीत किया। 'हुक्म' के ही वशीभूत सिद्ध और साधक सभी हैं।[१९] अन्त में पञ्चम गुरु अर्जुन देव ने स्पष्ट कर दिया है कि सारे खण्डों, सारे द्वीपों, सारे लोकों का निर्माण उसके एक वाक्य (हुक्म) से हुआ है।

'खंड दीप सभिलोआ। एक कवावै ते सभि होआ।'[२०] *१.१.१७*

सृष्टि रचना का समय – अज्ञात और अनिश्चित

सृष्टि रचना कब और कैसे हुई? इस प्रश्न के उत्तर में गुरु नानक देव स्पष्ट कहते हैं कि इसका ज्ञान मनुष्य की समझ से परे है। जैसा कि जपुजी में उद्धृत है–

कवणु सु बेला वखतु कवणु थिति कवणु वारु।
कवणि सि रुती माहु कवणु जितु होआ आकारु।।
वेल न पाइआ पंडती जि होवे लेखु पुराणु।
वखतु न पाइओ कादीआ जि लिखनि लेखु कुराणु।।
थिति वारु ना जोगी जाणै रुति माहु ना कोई।
जा करता सिरठी कउ साजे आपे जाणै सोई।।[२१] *पउड़ी २१*

अर्थात् – सृष्टि की रचना जब हुई, तो कौन घड़ी, कौन वक्त, कौन तिथि, कौन वार, कौन ऋतु, कौन महीना था, उसे कोई भी नहीं जानता। पंडित लोगों ने सृष्टि रचना की (बेला) को नहीं जाना, क्योंकि यदि वे निश्चित वेला जानते तो पुराणों में अवश्य उसका उल्लेख करते। काजी भी

सृष्टि रचना का निश्चित समय जानते तो निश्चय ही कुरान में उसका उल्लेख करते। योगीगण भी सृष्टि रचना की तिथि और घड़ी नहीं जानते। अन्य कोई सृष्टि रचना की ऋतु अथवा महीना नहीं जानता। जिसने सृष्टि रचना की है, वही इन सब (तथ्यों) को जानता है।

गुरु अर्जुन देव ने भी स्थान-स्थान पर संकेत दिया है कि सृष्टि का निर्माता ही सृष्टि के रहस्यों को जान सकता है— ***नानक करते की जाने करता रचना।।***[२२] *२.१०*

संक्षेपत: यह कहा जा सकता है कि गुरु ग्रन्थ साहिब में शून्य तत्त्व, ओंकार तत्त्व, हुक्म से सृष्टि की उत्पत्ति, सृष्टि रचना का अनिर्णीत काल तथा प्रकृति और पुरुष से परे सर्वव्यापक अमृत तत्त्व को सृष्टि का मूल मानना इत्यादि मान्यताएँ भारतीय दर्शनों की परम्परा में गुरु ग्रन्थ साहिब को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है।

संदर्भ :

१. श्री गुरु ग्रन्थ साहब मारु सोलहे, महला १
२. ऋग्वेद, मण्डल १०.१२९ नासदीय सूक्त
३. ऋग्वेद, १०.१२९.२
४. मनुस्मृति, १.५
५. १.१.७ गु. ग्र. सा. मारू, महला २
६. छान्दोग्य उपनिषद् ७.२४.१
७. श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन — सृष्टिक्रम — पृ.९९
८. श्री गु. ग्र. सा. मारू, सोलहे, महला १.१.१७
९. श्री गु. ग्र. सा. मारू, सोलहे, महला ३.४.१८
१०. वही, वा आसा, महला — १, पृष्ठ ४६३
११. श्री गु. ग्र. सा., सिरी रागु, महला ३, पृ. ३७
१२. श्री गु. ग्र. सा., सोरठि, महला ४, पृ . ६०५
१३. श्री गु. ग्र. सा., माझ, महला ५,पृ.१०२
१४. फिलासफी आफ सिक्खिज़्म, शेरसिंह, पृ.१८२
१५. पंजाबी भाखा विगिआन अते गुरमति गिआन, मोहन सिंह, पृ.२९
१६. श्री गु. ग्र. सा., जपुजी, महला १, पृष्ठ १
१७. पंजाबी भाखा विगिआन अते गुरमति गिआनि, मोहन सिंह, पृष्ठ ३०
१८. श्री गु. ग्र. सा., गउड़ी सुखमनी, पृष्ठ २७७
१९. श्री गु. ग्र. सा., मारू महला १, पृ. १०३७
२०. श्री गु. ग्र. सा., मारू महला ५, पृ. १००३
२१. वही, महला १, पृ. ४
२२. वही गउड़ी, सुखमनी, महला ५, पृष्ठ २७५

पूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
वी.वी.बी. आई. एस. पं. यूनि.
साधु आश्रम, होशियारपुर (पंजाब)

सृष्टि रचना - वैदिक एवं लौकिक संदर्भ

डॉ. ओम दत्त सरोच

यह दृश्यमान जगत जितना सुन्दर एवं अद्‌भुत है, इसकी रचना प्रक्रिया का इतिहास उतना ही रहस्यमय है। मानव के ज्ञान-चक्षु जब से उन्मीलित हुये, तभी से वह इस अद्‌भुत लोक-रचना के रहस्यों को जानने व खोजने के लिये प्रयत्नशील रहा है। मानवीय-चिन्तन का प्रारम्भ एवं आधार यह सृष्टि एवं सृष्टि-रचयिता परमेश्वर रहा है। इसी संदर्भ में भारतीय चिन्तन की एक सुदीर्घ परम्परा है, जो कि वेद संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों से होती हुई लोकगाथाओं, लोकगीतों व लोक संस्कृति में व्याप्त है।

आज के वैज्ञानिकों के लिये सृष्टि-रचना का इतिहास एवं प्रक्रिया अभी एक अनसुलझा रहस्य है। परन्तु भारतीय मनीषियों ने अपने तप, चिन्तन एवं मनन से वैदिक काल में ही इस रहस्य को सुलझा लिया था। यही कारण है कि कई वैदिक सूक्तों में सृष्टि-रचना व सृष्टि रचना से पूर्व की स्थिति के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी मिलती है, जिसका उत्तरोत्तर विकास उत्तरवर्ती वैदिक वाङ्मय, पुराणों तथा स्मृतियों में उपलब्ध है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त, हिरण्यगर्भ-सूक्त तथा नासदीय-सूक्त में सृष्टि रचना के सम्बन्ध में विशेष वर्णन मिलता है। वैदिक मान्यता अनुसार सृष्टि का प्रादुर्भाव पुरुष (परमेश्वर) से हुआ। परमेश्वर से प्रकट इस ब्रह्माण्ड का क्रमिक विकास एवं सृष्टि हुई। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णित है कि –

तस्माद् विराळजायत् विराजो अधिपूरुषः।
स जातोऽत्यरिच्यत् पश्चाद् भूमिमथो पुरः।। ऋ.१०/९०/५

उस पुरुष से विराट रूप ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई और यह पुरुष (परमेश्वर) उस ब्रह्माण्ड में व्याप्त हुआ। उसी से क्रमशः भूमि तथा भूमि पर रहने वाले जीव उत्पन्न हुए।

सृष्टि-रचना से पूर्व की स्थिति प्रलय के रूप में वेदों, पुराणों के साथ लोकगीतों में भी वर्णित है। नासदीय-सूक्त ऋग्वेद का महत्त्वपूर्ण सूक्त है, जिसमें सृष्टि-रचना से पूर्व की प्रलय कालीन स्थिति का चित्रण इस प्रकार से किया गया है –

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।।
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न पुरः किं चनास।।
तमासीत्तमसागूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्।। ऋ.१०/१२९/१–३

सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व प्रलय काल में न असत् (अभावात्मक तत्त्व) विद्यमान था और न ही सत् (सत्तात्मक तत्त्व) था। अर्थात् कुछ भी नहीं था। शून्य की स्थिति थी। पृथ्वी से आकाश पर्यन्त कोई लोक नहीं था। कोई आवरण, कोई तत्त्व भी नहीं था। उस समय न मृत्यु थी न मृत्यु का अभाव था। रात और दिन और उनके कारणभूत सूर्य और चन्द्रमा भी उस समय नहीं थे। उस समय केवल क्रियाशून्य चेतन ब्रह्म तत्त्व ही मौजूद था, जो कि अपनी माया प्रपञ्च को अपने अन्दर समेटे हुये था। चारों ओर गहन अन्धकार था और सब कुछ अन्धकार से आवृत था। तमो रूपी मूल कारण में यह जगत् अव्यक्त रूप में विद्यमान था। परमेश्वर की सृष्टि रचना रूपी संकल्प की महिमा से यह जगत् उस परमेश्वर से प्रकट हुआ। भाव यह है कि सब कुछ शून्य था। मनुस्मृति में इस स्थिति को इस प्रकार वर्णित किया गया है –

आसीदिदं तभोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः।। मनु १/५

अर्थात् सृष्टि रचना से पूर्व जगत् शून्य था। सर्वत्र अन्धकार व्याप्त था। पृथ्वी आदि लोक भी नहीं थे और माया से लिप्त ब्रह्म तत्त्व सुप्त (निष्क्रिय) अवस्था में था।

हिमाचल के कांगड़ा क्षेत्र जिसमें कांगड़ा, हमीरपुर, ऊना, बिलासपुर आदि जिलों का क्षेत्र आता है, में प्रचलित लोकगीत में प्रलय व सृष्टि रचना का वर्णन मिलता है। इस लोकगीत में नासदीय सूक्त तथा अन्य स्मृतियों, पुराणों आदि में वर्णित भावों की स्पष्ट छाया मिलती है। लोक गायक व भजन मंडलियों द्वारा विशेष अवसरों पर इस सृष्टिगीत को ओमकारा के नाम से गाया जाता है। ओमकारा से तात्पर्य प्रणव (ॐ) ही है जो कि परमेश्वर वाचक है। इस गीत में सृष्टिपूर्व की स्थिति रचना के साथ परमेश्वर की महिमा का भी वर्णन है जो कि इस प्रकार से है –

न था धरती, न था मण्डल, बरतया धुन्धकारा।
न था चन्द, न था सूरज, न था नौ लख तारा।
अलख निरंजन एक ब्रह्म था,
न था ब्रह्मा, न था विष्णु, न था शिवजी हारा।

अर्थात् प्रलय काल में कुछ भी नहीं था। न धरती, न मण्डल (आकाश), न सूरज और न चन्द्रमा था। चारों तरफ गहन अन्धकार था। लोकमान्यता अनुसार आकाश में तारों की संख्या नौ लाख मानी जाती है। वे भी नहीं थे। ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवता भी उस समय नहीं थे। केवल एक परब्रह्म परमेश्वर की ही सत्ता थी। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के ऊपरलिखित मन्त्रों – ***नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं .... न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि ....*** तथा ***तम आसीत्तमसागूळ्हमग्रे*** की छाया एवं स्पष्ट प्रभाव इस गीत में है। मन्त्रों के भाव का लोकभाषा के इस लोकगीत में सुन्दर प्रस्तुतिकरण है।

प्रलय के उपरान्त सृष्टि रचना का प्रारम्भ कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में ऋग्वेद में वर्णित है कि सर्वप्रथम सृष्टि की कामना का प्रादुर्भाव परमेश्वर के मन में हुआ। नासदीय सूक्त का उल्लेख है कि–

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा। ऋ.१०/१२९/४

सृष्टि उत्पत्ति काल में सबसे पहले सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा उत्पन्न हुई। ऋषियों ने इस सृष्टि के कारणभूत परमेश्वर को अपनी बुद्धि से हृदय में विचार कर खोजा। छान्दोग्य उपनिषद् तथा तैत्तिरीय आरण्यक में परमेश्वर द्वारा सृष्टि का वर्णन् इस प्रकार मिलता है –

सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति सो तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च। (तैतिरीय आरण्यक ८-९) मनुस्मृति में कहा गया है कि –

सोऽभिमध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजनत्।। मनु.१/८

अर्थात् परमेश्वर ने अनेक प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से सर्वप्रथम जल नाम सृष्टि की रचना की और उसमें अपना शक्ति रूपी बीज छोड़ा। ओंमकारा लोकगीत में इसे इस प्रकार गाया जाता है –

मन ते माई मनसा साजी,
बोली काहदे कारण तुसां बुलाई
माई मनसा चार कोंठ च जल थल
असां धरत लैणी बणाई।

परमेश्वर ने अपने मन से मनसा माई को उत्पन्न किया। पैदा होने के बाद माई मनसा ने परमेश्वर से पूछा कि मुझे क्यों बुलाया। परमेश्वर ने कहा कि चारों ओर जल ही जल है, हमें धरती (सृष्टि) रचना करनी है, इसीलिये तुझे प्रकट किया है। यहां वर्णित माई मनसा, परमेश्वर की सृष्टि उत्पत्ति की कामना ही है जिसे लोकगीत में 'माई मनसा' के रूप में कल्पित किया गया है।

मनुस्मृति में चारों तरफ जल व्याप्त होने तथा उसमें परमेश्वर के स्थित होने को इस तरह वर्णित किया है –

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः।। मनु.१/१०

भगवान के 'नारायण' नाम की व्याख्या आदि सृष्टि की ओर संकेत करती है। 'नार' शब्द जल का वाचक है तथा जल ही जिनका आश्रय है वह 'नारायण' है। विष्णु-पुराण में भी इस तथ्य को वर्णित किया है –

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः।। वि.पु.१/४/६

सृष्टि की आदि रचना जल है तथा सृष्टि के आदि में परमेश्वर (परम तत्त्व था जल का ही आश्रय लिये हुये था। ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में भी इस ओर संकेत है कि जल से ही सृष्टि का विकास हुआ है –

ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।

ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः।।
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी।।
सूर्य चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवं चं पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।। ऋ.१०/१९०/१–३

परम सत्य परमेश्वर से तप करते हुये जलरूप समुद्र से सम्वत् अर्थात् काल सूर्य आदि, दिन–रात उत्पन्न हुये।

जलमयी सृष्टि और जलमयी सृष्टि से अन्य तत्त्वों की सृष्टि का प्रतीकात्मक वर्णन लोक साहित्य में प्रचलित ***ओंमकारा*** में इस प्रकार मिलता है —

मनसा माई (परमेश्वर की सृष्टि रचना की इच्छा) और परमेश्वर के परस्पर संवाद रूप में गाथा —

मनसा — *धरत कियां बणाई? (धरती कैसे बनायें?)*

परमेश्वर — *झिकलिया पुरीय ब्रह्मा बैठेया तिसते मिट्टी लियोणी जाई। (नीचे पाताल में ब्रह्मा बैठा है, उससे जाकर मिट्टी* (सृष्टि निर्माण तत्त्व) *को लाना है।)*

मनसा — *गुरु चार कुंठ जल थल में किस रस्ते जाणा? (हे गुरु! चारों तरफ जल ही जल है, मैं किस रास्ते से वहां तक जाऊँ)*

परमेश्वर — *कौल फुल्ले दी निर्मल डण्डी उतरी पाताल पुरी जाई। (कमल के फूल की एक नाल पाताल तक गई है, उसके सहारे पाताल तक जाओ)*

पाताल पुरीया गुरु ताड़ी लाई बैठेया, बोलेया माई मनसा तू काहदे कारण आई (पातालपुरी में गुरु ब्रह्मा आसन जमा कर बैठा था। उसने कहा माई मनसा तू किस कारण से यहां आई है?)

मनसा — *गुरुआ उपरलिया पुरीया जल थल है, धरत लैणी बणाई। मिट्टिया कारण आई। (हे गुरुदेव! ऊपर का लोक जलमय है ,धरती की रचना करनी है। मैं मिट्टी लेने आई हूँ)*

ताड़िया थले ते, तिन्नां फुल्लां कनें मिट्टी झोलिया दित्ती पाई। (तब गुरु ब्रह्मा ने अपने आसन के नीचे से तीन अंगुलियों से मिट्टी लेकर मनसा की झोली में डाल दी।)

झोली उछली ने आई, कौल फुल्ले दिया निर्मल डण्डिया बैठी उपर आई, धरत लई बणाई। (एक चुटकी मिट्टी से मनसा माई की झोली भर गई और वह कमल के फूल की नाल के सहारे ऊपर आ गई और धरती की रचना की)

इस गीत में वर्णित कमल नाल, कमल पर विराजमान सृष्टि रचयिता ब्रह्मा की पौराणिक मान्यता की ओर संकेत है। तीन फूलों (अंगुलियों) से मिट्टी देना संभवतः तीन गुणों सत्व, रज तथा तमोगुण की ओर संकेत है तथा इन्हीं तीन गुणों (मिट्टी) से परमात्मा की शक्ति से सृष्टि रचना हुई,

यह वैदिक एवं पौराणिक मान्यता इस लोकगीत में स्पष्टतया वर्णित है। इसके अनुसार सर्वप्रथम परमेश्वर की सृष्टि उत्पत्ति की इच्छा का मनसा माई के रूप में प्रादुर्भाव, तदनन्तर जल की उत्पत्ति की और जल से पृथ्वी आदि अन्य तत्त्वों एवं लोकों की उत्पत्ति हुई। तैत्तिरीयोपनिषद् में सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया इस प्रकार से वर्णित है – ***तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद् वायु, वायोरग्नि, अग्नेरापः, अद्भ्य पृथिवी, पृथिव्याः ओषधयः, औषधीभ्योऽन्नम्, अन्नात् पुरुषः।।***

उस समय अनन्त रूप ब्रह्म में आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से अन्न, और अन्न से पुरुषादि प्राणी उत्पन्न हुये। उपनिषद् के वर्णन और लोक प्रचलित मान्यता में अन्तर यह है कि लोकगीत में जल से पृथिवी की उत्पत्ति का प्रसंग ही वर्णित है जब कि यहां आकाश से सृष्टि उत्पत्ति का क्रम प्रारम्भ होता है। लेकिन दोनों प्रसंगों में यह स्पष्ट है कि परमेश्वर से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। मनुस्मृति के अनुसार परमात्मा से ही अण्ड रूप में सृष्टि का सृजन प्रारम्भ हुआ। परमात्मा से मन, मन से अहंकार, अहंकार से महत् तत्त्व, महत् तत्त्व से पञ्चतन्मात्रायें तथा उनसे इन्द्रिय उत्पन्न हुईं। मनुस्मृति का यह मत सांख्य –दर्शन के सृष्टि सिद्धान्त का अनुसरण करता है। यथा –

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि।। *सांख्याकारिका–२२*

अव्यक्त (परमेश्वर) से प्रकृति (व्यक्त), व्यक्त से महत् तत्त्व, महत् तत्त्व से अहंकार, अहंकार से एकादश इन्द्रियां और पांच तन्मात्रायें, पांच तन्मात्राओं से पांच तत्त्वों का प्रादुर्भाव हुआ। विष्णु पुराण (१ / २ / ३४–४१) में भी यही क्रम वर्णित है।

इस प्रकार उपर्युक्त मान्यताओं से निष्कर्ष निकलता है कि सृष्टि रचना से पूर्व शून्य की स्थिति थी, अर्थात् कुछ भी नहीं था। केवल गाढ़ अन्धकार सर्वत्र व्याप्त था। सम्पूर्ण जगत, अव्यक्त रूप में परमशक्ति परमेश्वर में स्थित था। परमेश्वर में सर्वप्रथम सृष्टि–रचना के संकल्प का प्रादुर्भाव हुआ तथा उस मन संकल्प से विशेष ईश्वरीय शक्ति से जल रूपी सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ। जल से पृथ्वी, पृथ्वी से अन्नादि अन्य तत्त्वों का प्रादुर्भाव हुआ। पृथ्वी से पूर्व आकाश, वायु, अग्नि, जल आदि तत्त्व प्रकट हुये इस प्रकार क्रमिक विकास से सृष्टि अस्तित्व में आई। वेदविहित एवं वर्णित सृष्टि रचना सम्बन्धी मान्यतायें आरण्यकों, उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों से होती हुई लोकमानस एवं लोक संस्कृति में लोकगीतों, गाथाओं तथा कथाओं के रूप में प्रचलित हुई। यद्यपि लम्बी काल यात्रा में इन मान्यताओं एवं प्रतीकों में अन्तर आता गया, परन्तु फिर भी वेदों–पुराणों में वर्णित मूल सिद्धान्तों का ही लोक प्रचलन है। यह लोक संस्कृति में प्रचलित मान्यतायें वैदिक एवं पौराणिक धारणाओं से भिन्न नहीं है, अपितु उन्हीं का अनुसरण करती हैं।

प्राचार्य
संस्कृत महाविद्यालय, चकमोह
जिला हमीरपुर (हिमाचल प्रदेश)